



वारासाणुवेकखा

- स्वामि-कार्तिकेय

Index



गाथा / सूत्र	विषय
मंगलाचरण	
001)	इष्टदेव को नमस्कार
002-003)	बारह-भावनाओं के नाम
अनित्य अनुप्रेक्षा	
004)	अनित्य अनुप्रेक्षा का सामान्य स्वरूप
005-006)	अनित्य-अनुप्रेक्षा का विशेष स्वरूप
007)	इन्द्रियों की क्षणिकता
008)	बंधुजनों का संयोग कैसा?
009)	देह-संयोग की अस्थिरता
010)	लक्ष्मी की अस्थिरता
011)	इसी को विशेष समझाते हैं
012)	प्राप्त लक्ष्मी का क्या करना चाहिए?
013)	लक्ष्मी की अनित्यता
014)	लक्ष्मी को गाड़ने वाला मूर्ख
015)	बचाकर रखने वाले का धन पर के लिए
016)	लक्ष्मी पर मोहित जीव की दशा
017-018)	लक्ष्मी का दास
019)	लक्ष्मी को धर्म-कार्य में लगाने वाले की प्रशंसा
020)	सत्कार्यों में धन खर्चने वाले का जन्म सफल
021)	मोह का महात्मय
022)	उपसंहार
अशरण अनुप्रेक्षा	
023)	अशरण अनुप्रेक्षा का स्वरूप
024)	दृष्टांत
025)	इसी को दृढ़ करते हैं
026)	इसी को दृढ़ करते हैं
027)	शरण की कल्पना अज्ञान
028)	मरण आयु क्षय से

029)	इसी को दृढ़ करते हैं
030)	परमार्थ शरण
031)	निष्कर्ष
032-033)	संसार का सामान्य स्वरूप
034)	नरक-गति के दुःख
035)	नरक में पांच प्रकार के दुःख
036)	इसी को विशेष कहते हैं
037)	नरक के दुःख कहना संभव नहीं
038)	नरक का क्षेत्र और परिणाम दुःखमयी
039)	नरक में दुःख बहुत काल तक
040)	तीर्यच गति के दुःख
041)	तीर्यच सभी अवस्थाओं में दुखी
042)	तीर्यच को कोई शरण नहीं
043)	भूख-प्यास का दुःख
044)	उपसंहार
045)	मनुष्य-गति के दुःख
046)	मनुष्य-गति के और भी दुःख
047)	पाप से दुखी, फिर भी पुण्य नहीं करता
048)	पुण्य किसके द्वारा होते हैं ?
049)	पुण्यवान के भी इष्ट-वियोग सम्भव
050)	इसी को आगे और दृढ़ करते हैं
051)	स्त्री / पुत्र / रोग सम्बन्धी दुःख
052)	निर्धनता / मरण का दुःख
053)	अनिष्ट संयोगज दुःख
054)	इष्ट-वियोगज दुःख
055)	पाप को छोड़कर धर्म नहीं करता
056)	अनित्यता
057)	कर्म-वशता
058)	देवों के दुःख
059)	वियोग / तृष्णा का दुःख
060)	मानसिक दुःख
061)	विषयों में पराधिनता ही दुःख
062)	संसार में सभी जगह दुःख
063)	मोह का महात्मय
064-065)	विचित्र संयोग
066)	पांच प्रकार का परिभ्रमण
067)	द्रव्य परावर्तन
068)	क्षेत्र परावर्तन
069)	काल परावर्तन
070)	भव परावर्तन

071)	भाव परावर्तन
072)	उपसंहार
073)	संसार से छूटने की प्रेरणा
074-076)	एकत्व अनुप्रेक्षा
077)	स्वजन भी दुःख के साथी नहीं
078)	वास्तव में धर्म ही शरण
079)	भेद-भावना की प्रेरणा

अन्यत्व अनुप्रेक्षा

080)	अन्यत्व अनुप्रेक्षा का स्वरूप
081)	जानता हुआ भी अज्ञानी बनता है
082)	उपसंहार

अशुचि अनुप्रेक्षा

083)	अशुचि अनुप्रेक्षा का स्वरूप
084)	दुर्गंधित देह
085)	इसी को और विस्तार से बताते हैं
086)	इसी को और विस्तार से बताते हैं
087)	उपसंहार

आस्रव अनुप्रेक्षा

088)	आस्रव अनुप्रेक्षा का स्वरूप
089)	मोह से आस्रव
090)	आस्रव के दो प्रकार
091)	मन्द-कषाय
092)	तीव्र-कषाय
093)	आस्रव को हे जानकर त्यागने की प्रेरणा
094)	उपसंहार

संवर अनुप्रेक्षा

095)	संवर अनुप्रेक्षा का स्वरूप
096)	इसी का विशेष कहते हैं
097)	और भी
098)	परीषह जय
099)	चारित्र
100)	संवर बिना भव-भ्रमण
101)	उपसंहार

निर्जरा अनुप्रेक्षा

102)	निशल्य तप द्वारा निर्जरा
------	--------------------------

103)	निर्जरा का स्वरूप
104)	निर्जरा के दो प्रकार
105)	निर्जरा कैसे बढ़ती है?
106-108)	निर्जरा की वृद्धि के स्थान
109)	अधिक निर्जरा के उपाय
110-111)	विज्ञानघन निर्ममत्व आत्म-सम्मुख के निर्जरा
112-113)	विनम्र के निर्जरा
114)	उपसंहार

लोक अनुप्रेक्षा

115)	लोक-अनुप्रेक्षा का स्वरूप
116)	लोक नित्य है
117)	परिणमन वस्तु का स्वभाव
118)	लोक का विस्तार
119)	लोक का घन
120)	तीन लोक
121)	लोक की परिभाषा
122)	जीव-द्रव्य
123)	बादर और सूक्ष्म
124)	बादर-सूक्ष्म का विस्तार
125)	निगोद जीव
126)	साधारण जीव
127)	सूक्ष्म और बादर का स्वरूप
128)	प्रत्येक और त्रस जीव का स्वरूप
129)	पंचेंद्रिय जीवों के भेद
130)	गर्भज, सम्मूर्छन, भोग-भूमिज

बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा

धर्म अनुप्रेक्षा

426)	धर्म-ग्रहण का माहात्म्य दृष्टान्त-पूर्वक
427)	लक्ष्मी का चाहना धर्म-बिना निष्फल
428)	धर्मात्मा जीव की प्रवृत्ति
430)	धर्म का माहात्म्य
433)	धर्म-रहित जीव की निन्दा
436)	बारह प्रकार तप
437)	अनशन तप
441)	अवमौदर्य तप
443)	वृत्तिपरिसंख्यान तप

444)	रस-परित्याग तप
445)	विविक्त-शय्यासन तप
448)	काय-क्लेश तप
449)	प्रायश्चित्त तप
454)	विनय तप
457)	वैयावृत्य तप
459)	स्वाध्याय तप
460)	[जो पूयादिसु णिरवेक्खो] जो अपनी पूजा आदि में निरपेक्ष (वांछारहित) होता है और [कम्मलसोहणट्ठं] कर्मरूपी मैल का नाश करनेके लिए [भत्तीए जिणसत्थं पढेइ] भक्ति-पूर्वक जिन-शास्त्र को पढ़ता है [तस्स सुयनलाहो सुहयरो] उसको श्रुत का सुखकारी लाभ होता है ।
465-466)	व्युत्सर्ग तप
468)	ध्यान का लक्षण
469)	शुभ और अशुभ ध्यान
471-472)	आर्त-ध्यान
473)	रौद्र-ध्यान
475)	हेय-उपादेय ध्यान
476)	धर्म-ध्यान का स्वरूप
481)	शुक्ल-ध्यान
482)	पहला शुक्ल-ध्यान
483)	दूसरा शुक्ल-ध्यान
484)	तीसरा शुक्ल-ध्यान
485)	चौथा शुक्ल-ध्यान
486)	उपसंहार
487)	ग्रन्थ-कर्ता द्वारा ग्रन्थ करने का कारण
488)	उपदेश का फल
489)	अन्त्य-मंगल



!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नमः !!

श्रीमद्-कार्तिकेय-देव-प्रणीत

श्री

वारासाणुवेक्खा

मूल प्राकृत गाथा एवं पं जयचंदजी छाबडा द्वारा हिंदी टीका

आभार :



!! नमः श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः ॥१॥

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका
मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥२॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥३॥

॥ श्रीपरमगुरुवे नमः, परम्पराचार्यगुरुवे नमः ॥

अर्थ : बिन्दुसहित ॐकार को योगीजन सर्वदा ध्याते हैं, मनोवाँछित वस्तु को देने वाले और मोक्ष को देने वाले ॐकार को बार बार नमस्कार हो । निरंतर दिव्य-ध्वनि-रूपी मेघ-समूह संसार के समस्त पापरूपी मैल को धोनेवाली है मुनियों द्वारा उपासित भवसागर से तिरानेवाली ऐसी जिनवाणी हमारे पापों को नष्ट करो । जिसने अज्ञान-रूपी अंधेरे से अंधे हुये जीवों के नेत्र ज्ञानरूपी अंजन की सलाई से खोल दिये हैं, उस श्री गुरु को

नमस्कार हो । परम गुरु को नमस्कार हो, परम्परागत आचार्य गुरु को नमस्कार हो ।

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्रीवारासाणुवेक्खा नामधेयं, अस्य मूलाग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य स्वामि-कार्तिकेयदेव विरचितं, श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु ॥

(समस्त पापों का नाश करनेवाला, कल्याणों का बढ़ानेवाला, धर्म से सम्बन्ध रखनेवाला, भव्यजीवों के मन को प्रतिबुद्ध-सचेत करनेवाला यह शास्त्र श्रीवारासाणुवेक्खा नाम का है, मूल-ग्रन्थ के रचयिता सर्वज्ञ-देव हैं, उनके बाद ग्रन्थ को गूँथनेवाले गणधर-देव हैं, प्रति-गणधर देव हैं उनके वचनों के अनुसार लेकर आचार्य स्वामि-कार्तिकेयदेव द्वारा रचित यह ग्रन्थ है । सभी श्रोता पूर्ण सावधानी पूर्वक सुनें ।)

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥



मंगलाचरण



+ इष्टदेव को नमस्कार -

तिहुवण-तिलयं देवं वंदित्ता तिहुवणिंद परिपुज्जं
वोच्छं अणुपेहाओ भविय-जणाणंद-जणणीओ ॥१॥

अन्वयार्थ : [तिहुवणतिलयं] तीन भुवन का तिलक [तिहुवणिंदपरिपुज्जं] तीन भुवन के इन्द्रों से पूज्य (ऐसे) [देवं] देव को मैं अर्थात् स्वामि कार्तिकेय वंदित्ता नमस्कार करके [भवियजणाणंदजणणीओ] भव्य जीवों को आनन्द उत्पन्न करने वाली [अणुपेहाओ] अनुप्रेक्षायें [वोच्छं] कहूँगा ।



+ बारह-भावनाओं के नाम -

अद्धुव असरण भणिया संसारामेगमण्णमसुइत्तं
आसव-संवरणामा णिज्जर-लोयाणुपेहाओ ॥२॥
इय जाणिऊण भावह दुल्लह-धम्माणुभावणा णिच्चं
मण-वयण-कायसुद्धी एदा दस दोय भणिया हु ॥३॥

अन्वयार्थ : [एदा] ये [अद्धुव] अध्रुव / अनित्य [असरण] अशरण [संसारामेगमण्णमसुइत्तं] संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व [आसव] आस्रव [संवरणामा] संवर [णिज्जरलायाणुपेहाओ] निर्जरा, लोक अनुप्रेक्षायें [दुल्लह] बोधि दुर्लभ [धम्माणुभावणा] धर्म भावना सह [दस दोय] बारह भावना [भणिया] कही गई हैं [इस जाणिऊण] इन्हें जानकर [मणवयणकायसुद्धी] मन-वचन-काय की शुद्धी पूर्वक [णिच्चं] निरन्तर [भावह] भावो ।



अनित्य अनुप्रेक्षा



+ अनित्य अनुप्रेक्षा का सामान्य स्वरूप -

जं किंचिवि उप्पणं तस्स विणासो हवेइ णियमेण
परिणाम-सरूवेण वि ण य किंचिवि सासयं अत्थि ॥४॥

अन्वयार्थ : [जं किंचिवि उप्पणं] जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है [तस्स णियमेण विणासो हवेइ] उसका नियम से नाश होता है [परिणामसरूवेणवि] परिणाम-स्वरूप से तो [ण किंचिवि सासयं अत्थि] कुछ भी नित्य नहीं हैं ।



+ अनित्य-अनुप्रेक्षा का विशेष स्वरूप -

जम्मं मरणेण समं संपज्जइ जोव्वणं जरा-सहियं
लच्छी विणास-सहिया इयं सव्वं भंगुरं मुणह ॥५॥
अथिरं परिणय-सयणं पुत्त-कलत्तं सुमित्त-लावण्णं
गिह-गोहणाइ सव्वं णव-घण-विंदेण सारिच्छं ॥६॥

अन्वयार्थ : [जम्मं मरणेण समं] यह जन्म है सो मरण सहित है [जुव्वणं जरासहियं संपज्जइ] यौवन है सो जरा (बुढ़ापे) सहित उत्पन्न होता है [लच्छी विणाससहिया] लक्ष्मी है सो विनाश सहित उत्पन्न होती है [इयसव्वं भंगुरं मुणह] इस प्रकार से सब वस्तुओं को क्षणभंगुर जानो ।

[परियणसयणं] परिवार, बन्धुवर्ग [पुत्तकलत्तं] पुत्र, स्त्री [सुमित्त] अच्छे मित्र [लावण्णं] शरीर की सुन्दरता [गिहगोहणाइ सव्वं] गृह गोधन इत्यादि समस्त वस्तुएँ [णवघणविंदेण सारिच्छं] नवीन मेघ-समूह के समान [अथिरं] अस्थिर हैं ।



+ इन्द्रियों की क्षणिकता -

सुरधणु-तडिव्व चवला इंदिय-विसया सुभिच्च-वग्गा य
दिट्ठ-पणट्ठा सव्वे तुरय-गया रहवरादी य ॥७॥

अन्वयार्थ : [इंदियविसया] इन्द्रियों के विषय [सुभिच्चवग्गा] अच्छे सेवकों का समूह [य] और [तुरयगयारहवरादीया] घोड़े, हाथी, रथ आदिक [सव्वे] ये सब ही [सुरधणुतडिव्वचवला] इन्द्रधनुष तथा बिजली के समान चंचल हैं [दिट्ठपणट्ठा] दिखाई देकर नष्ट हो जाने वाले हैं ।



+ बंधुजनों का संयोग कैसा? -

पंथे पहिय-जणाणं जह संजोओ हवेइ खणमित्तं
बंधुजणाणं च तहा संजोओ अद्धुओ होइ ॥८॥

अन्वयार्थ : [जह] जैसे [पंथे] मार्ग में [पहियजणाणं] पथिक जनों का [संजोओ] संजोग [खणमित्तं] क्षणमात्र [हवेइ] होता है [तहा] वैसे ही (संसार में) [बंधुजणाणं] बंधुजनों का [संजोओ] संयोग [अद्धुओ] अस्थिर [होइ] होता है ।



+ देह-संयोग की अस्थिरता -

अइलालिओ वि देहो ण्हाण-सुयंधेहिं विविह-भक्खेहिं
खणमित्तेण वि विहडइ जल-भरिओ आम-घडओव्व ॥९॥

अन्वयार्थ : [देहो] यह देह [ण्हाणसुयंधेहिं] स्नान तथा सुगन्धित पदार्थोंसे सजाया हुआ भी (तथा) [विविहभक्खेहिं] अनेक प्रकार के भोजनादि भक्ष्य पदार्थों से [अइलालिभो वि] अत्यन्त लालन पालन किया हुआ भी [जलभरिओ] जल से भरे हुए [आमघडओव्व] कच्चे घड़े की तरह [खणमित्तेण वि] क्षण-मात्र में ही [विहडइ] नष्ट हो जाता है ।



+ लक्ष्मी की अस्थिरता -

जा सासया ण लच्छी चक्कहराणं पि पुण्णवंताणं
सा किं बंधेइ रइं इयर-जणाणं अपुण्णाणं ॥१०॥

अन्वयार्थ : [जा लच्छी] जो लक्ष्मी (सम्पदा) [पूण्णवंताणं चक्कहराणं पि] पुण्य के उदय सहित चक्रवर्तियों के भी [सासया ण] नित्य नहीं है [सा] वह (लक्ष्मी) [अपुण्णाणं इयरतणाणं] पुण्यहीन अथवा अल्प-पुण्यवाले अन्य लोगों से [किं रइं बंधेइ] कैसे प्रेम करे ?



+ इसी को विशेष समझाते हैं -

कथ वि ण रमइ लच्छी कुलीण-धीरे वि पंडिए सूरे
पुज्जे धम्मिट्ठे वि य सुवत्त-सुयणे महासत्ते ॥११॥

अन्वयार्थ : [लच्छी] यह लक्ष्मी [कुलीणधीरे वि पंडिए सूरे] कुलवाल, धैर्यवान्, पण्डित, सुभट [पुज्जे धम्मिट्ठे वि य] पूज्य, धर्मात्मा [सुवत्त-सुयणे महासत्ते] रूपवान्, सुजन, महा-पराक्रमी इत्यादि [कथवि ण रमइ] किसी भी पुरुष से प्रेम नहीं करती है ।



+ प्राप्त लक्ष्मी का क्या करना चाहिए? -

**ता भुंजिज्जउ लच्छी दिज्जउ दाणे दया-पहाणेण
जा जल-तरंग-चवला दो तिण्णि दिणाइ चिट्ठेइ ॥१२॥**

अन्वयार्थ : [जा लच्छी] जो लक्ष्मी [जलतरंगचवला] पानी की लहर के समान चंचल है [दो तिण्णिदिणाणि चिट्ठेइ] दो तीन दिन तक चेष्टा करती है अर्थात् विद्यमान है तब तक [ता भुंजिज्जउ] उसको भोगो [दयापहाणेण दाणं दिज्जउ] दया-प्रधान होकर दान दो ।



+ लक्ष्मी की अनित्यता -

**जो पुण लच्छिं संचदि ण य भुंजदि णेय देदि पत्तेसु
सो अप्पाणं वंचदि मणुयत्तं णिप्फलं तस्स ॥१३॥**

अन्वयार्थ : [पूण] और [जो लच्छिं संचदि] जो लक्ष्मी को इकट्ठी करता है [ण य भुंजदि] न तो भोगता है [पत्तेसु णेय देदि] और न पात्रों के निमित्त दान करता है [सो अप्पाणं वंचदि] वह अपनी आत्मा को ठगता है [तस्स मणुयत्तं णिप्फलं] उसका मनुष्य-पना निष्फल है ।



+ लक्ष्मी को गाड़ने वाला मूर्ख -

**जो संचिऊण लच्छिं धरणियले संठवेदि अइदूरे
सो पुरिसो तं लच्छिं पाहाण-समाणियं कुणदि ॥१४॥**

अन्वयार्थ : [जो लच्छिं संचिऊण] जो पुरूष लक्ष्मी को संचय करके [अइदूरे धरणियले संठवेदि] बहुत नीचे जमीन में गाड़ता है [सो पुरिसो तं लच्छिं] वह पुरूष लक्ष्मी को [पाहाणमसमाणियं कुणइ] पत्थर के समान करता है ।



+ बचाकर रखने वाले का धन पर के लिए -

**अणवरयं जो संचदि लच्छिं ण य देदि णेय भुंजेदि
अप्पणिया वि य लच्छी पर-लच्छि-समाणिया तस्स ॥१५॥**

अन्वयार्थ : [जो] जो पुरूष [लच्छिं] लक्ष्मी को [अणवरयं] निरंतर [संचदि] संचित करता है [णय य देदि] न दान करता है [णेय भुंजेदि] न भोगता है [तस्स अप्पणिया वि य लच्छी] उसके अपनी लक्ष्मी भी [पर लच्छिसमाणिया] पर की लक्ष्मी के समान है ।



+ लक्ष्मी पर मोहित जीव की दशा -

लच्छी-संसत्त-मणो जो अप्पाणं धरेदि कट्टेण
सो राइ-दाइयाणं कज्जं साहेदि मूढप्पा ॥१६॥

अन्वयार्थ : [जो] जो पुरूष [लच्छीसंसत्तमणो] लक्ष्मी में आसक्त चित्त होकर [अप्पाणं कट्टेण धरेदि] अपनी आत्मा को कष्ट सहित रखता है [सो मूढप्पा राइदाइयाणं] राजा तथा कुटुम्बियों का [कज्जं साहेहि] कार्य सिद्ध करता है ।



+ लक्ष्मी का दास -

जो वड्डारदि लच्छिं बहु-विह-बुद्धीहिं णेय तिप्पेदि
सव्वारंभं कुव्वदि रत्ति-दिणं तं पि चिंतेइ ॥१७॥
ण य भुंजदि वेलाए चिंतावत्थो ण सुवदि रयणीए
सो दासत्तं कुव्वदि विमोहिदो लच्छि-तरुणीए ॥१८॥

अन्वयार्थ : [जो] जो पुरूष [बहुविहबुद्धीहिं] अनेक प्रकार की कला चतुराई और बुद्धि के द्वारा [लच्छिं वड्डारदि] लक्ष्मी को बढ़ता है [णेय तिप्पेदि] तृप्त नहीं होता है [सव्वारंभं कुव्वदि] इसके लिये असि-मसि-कृषि आदि क सब आरंभ करता है [रत्तिदिणं तं पि चिंतेइ] रात दिन इसी के आरंभ का चिंतन करता है [वेलाए ण य भुंजदि] समय पर भोजन नहीं करता है [चिंतावत्थो रयणीए ण सुवदि] चिंतित होता हुआ रात में सोता भी नहीं है [सो] वह पुरूष [लच्छि-तरुणीए विमोहिदो] लक्ष्मी-रूपी युवती से मोहित होकर [दासत्तं कुव्वदि] उसका किंकरपना करता है ।



+ लक्ष्मी को धर्म-कार्य में लगाने वाले की प्रशंसा -

जो वड्डमाण-लच्छिं अणवरयं देदि धम्म-कज्जेसु
सो पंडिएहिं थुव्वदि तस्स वि सहला हवे लच्छी ॥१९॥

अन्वयार्थ : [जो] जो पुरूष (पुण्यके उदयसे) [वड्डमाण लच्छिं] बढ़ती हुई लक्ष्मी को [अणवरयं] निरंतर [धम्मकज्जेसु देदि] धर्म के कार्यों में देता है [सो पंडिएहिं थुव्वदि] वह पुरूष पंडितों द्वारा स्तुति करने योग्य है [वि तस्स लच्छी सहला हवे] और उसी की लक्ष्मी सफल है ।



+ सत्कार्यों में धन खर्चने वाले का जन्म सफल -

एवं जो जाणित्ता विहलिय-लोयाण धम्म-जुत्ताणं
णिरवेक्खो तं देदि हु तस्स हवे जीवियं सहलं ॥२०॥

अन्वयार्थ : [जो एवं जाणित्ता] जो पुरुष ऐसा जानकर [धम्मजुत्ताणं विहलियलोयाण] धर्म-युक्त ऐसे निर्धन लोगों के लिये [णिरवेक्खो] प्रत्युपकार की इच्छा से रहित होकर [तं देदि] उस लक्ष्मी को देता है [हु तस्स जीवियं सहलं हवे] निश्चय से उसी का जन्म सफल होता है ।



+ मोह का महात्म्य -

जल-बुब्बुय-सारिच्छं धण-जोवण्ण जीवियं पि पच्छंता मण्णंति तो वि णिच्चं अइ बलिओ मोह-माहप्पो ॥२१॥

अन्वयार्थ : (यह प्राणी) [धणजुव्वणजीवियं] धन, यौवन, जीवन को [जलबुब्बुस-सारिच्छं] जल के बुदबुदे के समान [तुरंत नष्ट होते] [पेच्छंता पि] देखते हुए भी [णिच्चं मण्णंति] नित्य मानता है (यह बड़े ही आश्चर्यकी बात है) [मोहमाहप्पो अइवलिओ] मोह का माहात्म्य बड़ा बलवाला है ।



+ उपसंहार -

चइऊण महामोहं विसए मुणिऊण भंगुरे सव्वे णिव्विसयं कुणह मणं जेण सुहं उत्तमं लहह ॥२२॥

अन्वयार्थ : (हे भव्यजीवी !) [सव्वे विसए भंगुरे मुणिऊण] समस्त विषयों को विनाशीक जानकर [महामोहं चइऊण] महामोह को छोड़कर [मणं णिव्विसयं कुणह] अपने मन को विषयों से रहित करो । [जेण उत्तमं सुहं लहइ] जिससे उत्तम सुख को प्राप्त करो ।



अशरण अनुप्रेक्षा



+ अशरण अनुप्रेक्षा का स्वरूप -

तत्थ भवे किं सरणं जत्थ सुरिंदाण दीसदे विलओ
हरि-हर-बंभादीया कालेण य कवलिया जत्थ ॥२३॥

अन्वयार्थ : [जत्थ सुरिंदाण विलओ दीसदे] जहाँ देवों के इन्द्र का नाश देखा जाता है [जत्थ हरिहरबंभादीया कालेण य कवलिया] जहाँ हरि (नारायण), हर (रूद्र), ब्रह्मा (विधाता), आदि शब्द से बड़े बड़े पदवी-धारक सब ही काल द्वारा ग्रसे गये, [तत्थ किं सरणं भवे] वहाँ कौन शरण होवे ?



+ दृष्टान्त -

सीहस्स कमे पडिदं सारंगं जह ण रक्खदे को वि
तह मिच्चुणा य गहिदं जीवं पि ण रक्खदे को वि ॥२४॥

अन्वयार्थ : [जह सिंहस्स कमे पंडिदं] जैसे सिंह के पैर के नीचे पड़े हुए [सारंगं को वि ण रक्खदे] हिरण की कोई भी रक्षा करनेवाला नहीं [तह मिच्चुणा य गहिदं जीवं पि] वैसे ही (संसार में) मृत्यु के द्वारा ग्रहण किये हुए जीव की [को वि ण रक्खदे] कोई भी रक्षा नहीं कर सकता है ।



+ इसी को दृढ़ करते हैं -

जइ देवो वि य रक्खदि मंतो तंतो य खेत्त पालो य
मियमाणं पि मणुस्सं तो मणुया अक्खया होंति ॥२५॥

अन्वयार्थ : [जइ मियमाणं पि मणुस्सं] यदि मरते हुए मनुष्य को [देवो वि य मंतो तंतो य खेत्तपालो य रक्खदि] कोई देव, मंत्र, तंत्र, क्षेत्रपाल उपलक्षण से संसार जिनको रक्षक मानता है सो सब ही रक्षा करने वाले हों [तो मणुया अक्खया होंति] तो मनुष्य अक्षय होवें (कोई भी मरे नहीं) ।



+ इसी को दृढ़ करते हैं -

अइ-बलिओ वि रउद्धो मरण-विहीणो ण दीसदे को वि
रक्खिज्जंतो वि सया रक्ख-पयारेहिं विविहेहिं ॥२६॥

अन्वयार्थ : [अइगलियो वि रउद्धो] अत्यंत बलवान् तथा रौद्र (भयानक) [विविहेहिं रक्खपयारेहिं रक्खिज्जंतो वि सया] और अनेक रक्षा के प्रकार, उनसे निरन्तर रक्षा किया हुआ भी [मरणविहीणो को वि ण दीसए] मरण-रहित कोई भी नहीं दिखता है ।



+ शरण की कल्पना अज्ञान -

एवं पेच्छंतो वि हु गह-भूय-पिसाय -जोइणी-जक्खं
सरणं मण्णइ मूढो सुगाढ-मिच्छत्त-भावादो ॥२७॥

अन्वयार्थ : [एवं पेच्छंतो वि हु] ऐसे (पूर्वोक्त-प्रकार अशरण) प्रत्यक्ष देखता हुआ भी [मूढो] मूढ प्राणी [सुगाढमिच्छत्तभावादो] तीव्र-मिथ्यात्व-भाव से [गहभूयपिसाय जोइणी जक्खं] सूर्यादि ग्रह, भूत, व्यंतर, पिशाच, योगिनी, चंडिकादिक, यक्ष, मणिभद्रादिक को [सरणं मण्णइ] शरण मानता है ।



+ मरण आयु क्षय से -

आउ-क्खएण मरणं आउं दाउं ण सक्कदे को वि
तम्हा देविंदो वि य मरणउ ण रक्खदे को वि ॥२८॥

अन्वयार्थ : [आयुक्खयेण मरणं] आयु-कर्म के क्षय से मरण होता है [आउं दाऊण सक्कदे को वि] और आयु-कर्म किसी को कोई देने में समर्थ नहीं [तम्हा देविंदो वि य] इसलिये देवों का इन्द्र भी [मरणाउ को वि ण रक्खदे] मरने से किसी की रक्षा नहीं कर सकता है ।



+ इसी को दृढ़ करते हैं -

अप्पाणं पि चवंतं जइ सक्कदि रक्खि दुं सुरिंदो वि
तो किं छंडदि सगं सव्वुत्तम-भोय-संजुत्तं ॥२९॥

अन्वयार्थ : [जइ सुरिंदो वि] यदि देवों का इन्द्र भी [अप्पाणं पि चवंतं] अपने को चयते (मरते) हुए [रक्खिदुं सक्कदि] रोकने में समर्थ होता [तो सव्वुत्तम-भोयसंजुत्तं] तो सर्वोत्तम भोगों से संयुक्त [सगं किं छंडदि] स्वर्ग को क्यों छोड़ता ?



+ परमार्थ शरण -

दंसण-णाण-चरित्तं सरणं सेवेह परम-सद्धाए
अण्णं किं पि ण सरणं संसारे संसरंताणं ॥३०॥

अन्वयार्थ : (हे भव्य) [परमसद्धाए] परम श्रद्धा से [दंसणणाणचरित्तं] दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य स्वरूप [सरणं सेवेहि] शरण का सेवन कर । [संसारे संसरंताणं] इस संसार में भ्रमण करते हुए जीवों को [अण्णं किं पि ण सरणं] अन्य कुछ भी शरण नहीं हैं ।



+ निष्कर्ष -

**अप्पा णं पि य सरणं खमादि-भावेहिं परिणदो होदि
तिव्व-क सायाविट्ठो अप्पाणं हणदि अप्पेण ॥३१॥**

अन्वयार्थ : [स अप्पाणं खमादिभावेहिं परिणदं होदि सरणं] जो अपने का क्षमादि दश-लक्षण-रूप परिणत करता है सो शरण है [तिव्वकषायाविट्ठो अप्पेण अप्पाणं हणदि] और जो तीव्र-कषाय युक्त होता है सो अपने ही द्वारा अपने को हनता है ।



+ संसार का सामान्य स्वरूप -

**एक्कं चयदि सरीरं अण्णं गिण्हेदि णव-णवं जीवो
पुणु पुणु अण्णं अण्णं गिण्हदि मुंचेदि बहु-वारं ॥३२॥
एवं जं संसरणं णाणा-देहेसु होदि जीवस्स
सो संसारो भण्णदि मिच्छ-क साएहिं जुत्तस्स ॥३३॥**

अन्वयार्थ : [मिच्छकसायेहिं जुत्तस्स जीवस्य] मिथ्यात्व कहिये सर्वथा एकान्तरूप वस्तु को श्रद्धा में लाना और कषाय कहिये क्रोध, मान, माया लोभ इनसे युक्त इस जीव का [जं णाणादेहेसु संसरणं हवदि] जो अनेक शरीरों संसरण कहिये भ्रमण होता है [सो संसारो भण्णदि] वह संसार कहलाता है । वह किस तरह ? सो ही कहते हैं । [जीवो एक्कं शरीरं चयदि] यह जीव एक शरीर को छोड़ता है [पुणु अण्णं अण्णं बहुवारं गिण्हदि मुंचेदि] फिर अन्य अन्य शरीर को कई बार ग्रहण करता है और छोड़ता है [सो संसारो भण्णदि] वह संसार कहलाता है ।



+ नरक-गति के दुःख -

**पाव-उदयेण णरए जायदि जीवो सहेदि बहु-दुक्खं
पंच-पयारं विविहं अणोवमं अण्ण-दुक्खेहिं ॥३४॥**

अन्वयार्थ : [जीवो पावोदयेण णरए जायदि] यह जीव पाप के उदय से नरक में उत्पन्न होता है [विविहं अण्णदुक्खेहिं पंचपयारं अणोवमं बहुदुक्खं सहेदि] वहाँ कई तरह के, पंच-प्रकार से, उपमारहित ऐसे बहुत से दुःख सहता है ।



+ नरक में पांच प्रकार के दुःख -

असुरोदीरिय-दुखं सारीरं माणसं तहा विविहं खित्तुब्भवं च तिव्वं अण्णो ण्ण-कयं च पंचविहं ॥३५॥

अन्वयार्थ : [असुरोदीरियदुखं] असुरकुमार देवों द्वारा उत्पन्न किया हुआ दुःख, [सारीरं माणसं] शरीर से उत्पन्न हुआ और मन से हुआ [तहा विविहं खित्तुब्भवं] तथा अनेक प्रकार क्षेत्र से उत्पन्न हुआ [च अण्णोणकयं पंचविहं] और परस्पर किया हुआ ऐसे पाँच प्रकार के दुःख हैं ।



+ इसी को विशेष कहते हैं -

छिज्जइ तिलतिलमित्तं भिंदिज्जइ तिल तिलंतरं सयलं वज्जगीए कढिज्जइ णिहिप्पए पूयकुंडमिहि ॥३६॥

अन्वयार्थ : (नरक में) [तिलतिलमित्तं छिज्ज] तिल-तिल-मात्र छेद देते हैं [सयलं तिलतिलं भिंदिल्लइ] शकल कहिये खण्ड को भी तिल-तिल-मात्र भेद देते हैं [वज्जगीए कढिज्जइ] वज्राग्नि में पकाते हैं [पूयकुण्डमिहि णिहिप्पए] राध के कुण्ड में फेंक देते हैं ।



+ नरक के दुःख कहना संभव नहीं -

इच्चेवमाइ-दुखं जं णरए सहदि एयसमयमिहि तं सयलं वण्णेदुं ण सक्कदे सहस-जीहो वि ॥३७॥

अन्वयार्थ : [इच्चमाइ जं दुखं] इति कहिये ऐसे एवमादि कहिये पूर्व गाथा में कहे गए उनको आदि लेकर जो दुःख उनको [णरए एयसमयमिहि सहदि] नरक में एक समय में जीव सहता है [तं सयलं वण्णेदुं] उन सब का वर्णन करने के लिये [सहसज्जीहो वि ण सक्कदे] हजार जीभवाला भी समर्थ नहीं होता है ।



+ नरक का क्षेत्र और परिणाम दुखमयी -

सव्वं पि होदि णरए खित्तसहावेण दुखदं असुहं कुविदा वि सव्वकालं अण्णोण्णं होन्ति णेरइया ॥३८॥

अन्वयार्थ : [णरये खित्तसहावेण सव्वं पि दुखदं असुहं होदि] नरक में क्षेत्र स्वभाव से सब ही कारण दुःखदायक तथा अशुभ हैं । [णेरइया सव्वकालं अण्णीण्णं कुविदा होन्ति] नारकी जीव सदा काल परस्पर में क्रोधित होते रहते हैं ।



+ नरक में दुःख बहुत काल तक -

**अण्ण-भवे जो सुयणो सो वि य णरये हणेइ अइ-कुविदो
एवं तिब्ब-विवागं बहु-कालं विसहदे दुक्खं ॥३९॥**

अन्वयार्थ : [अण्णभवे जो सुयणो] पूर्वभव में जो सज्जन कुटुम्ब का था [सो वि य णरये अइकुविदो हणेइ] वह भी नरक में क्रोधित होकर घात करता है [एवं तिब्बविवागं दुःख बहुकालं विसहदे] इसप्रकार तीव्र है विपाक जिसका ऐसा दुःख बहुत काल तक नारकी सहता हैं ।



+ तीर्यच गति के दुःख -

**तत्तो णीसरिट्ठणं जायदि तिरएसु बहुवियप्पेसु
तत्थ वि पावदि दुक्खं गम्भे वि य छेयणादीयं ॥४०॥**

अन्वयार्थ : [णरये खित्तसहावेण सव्वं पि दुक्खदं असुहं होदि] नरक में क्षेत्र स्वभाव से सब ही कारण दुःखदायक तथा अशुभ है । [णेइया सव्वकालं अण्णीण्णं कुविदा होति] नारकी जीव सदा काल परस्परमें क्रोधित होते रहते हैं ।



+ तीर्यच सभी अवस्थाओं में दुखी -

**तिरिएहिं खज्जमाणो दुट्ठ-मणुस्सेहिं हण्णमाणो वि
सव्वत्थ वि संतट्ठो भय-दुक्खं विसहदे भीमं ॥४१॥**

अन्वयार्थ : (उस तीर्यचगति में यह जीव) [तिरिएहिं खज्जमाणो] सिंह-व्याघ्रादिक से खाये जाने का [वि दुट्ठमणुस्सेहिं हण्णमाणो] तथा दृष्ट मनुष्य, म्लेच्छ व्याध धीवरादिक से मारे जाने का [सव्वत्थ वि संतट्ठो] सब जगह दुखी होता हुआ [भीमं भयदुक्खं विसहदे] रोद्र भयानक दुःख को विशेषरूप से सहता हैं ।



+ तीर्यच को कोई शरण नहीं -

**अण्णोण्णं खज्जंता तिरियां पावंति दारुणं दुक्खं
माया वि जत्थ भक्खदि अण्णो को तत्थ रक्खेदि ॥४२॥**

अन्वयार्थ : [तिरिया अण्णोण्णं खज्जंता] यह तीर्यच [जीव] परस्पर में खाये जाने का [दारुणं दुक्खं पावंति] उत्कृष्ट दुःख पाता है [जत्थ माया वि भक्खदि] जहाँ जिसके गर्भ में उत्पन्न हुआ ऐसी माता भी भक्षण कर जाती है [तत्थ अण्णो को रक्खेदि] वहाँ दूसरा कौन रक्षा करे ?

+ भूख-प्यास का दुःख -

तिव्व-तिसाए तिसिदो तिव्व-विभुक्खाइ भुक्खिदो संतो
तिव्वं पावदि दुक्खं उयर-हुयासेण डज्झंतो ॥४३॥

अन्वयार्थ : [तिव्वतिसाए तिसिदो] तीव्र-प्यास से प्यासा [तिव्वविंभुक्खाइ भुक्खिदो संतो] तीव्र-भुख से भुखा होता हुआ [उयरहुयासेण डज्झंतो] उदराग्नि से जलता हुआ [तिव्वं दुक्खं पावदि] तीव्र दुःख पाता है ।

+ उपसंहार -

एवं बहुप्पयारं दुक्खं विसहेदि तिरिय-जोणीसु
तत्तो णीसरदूणं लब्धि-अपुण्णो णरो होदि ॥४४॥

अन्वयार्थ : [एवं] ऐसे (पूर्वोक्त प्रकार) [तिरियजाणीसु] तिर्यचयोनि में [जीव] [बहुप्पयारं दुक्खं विसहेदि] अनेक प्रकार के दुःख सहता है [तत्तो णीसरदूणं] उस तिर्यचगति से निकल कर [लब्धिअपुण्णो णरो होदि] लब्धि-अपर्याप्त [जहाँ पर्याप्ति पूरी ही नहीं होती] मनुष्य होता है ।

+ मनुष्य-गति के दुःख -

अह गब्भे वि य जायदि तत्थ वि णिवडीकयंग-पच्चंगो
विसहदि तिव्वं दुक्खं णिग्गममाणो वि जोणीदो ॥४५॥

अन्वयार्थ : [अह गब्भे वि य जायदि] अथवा गर्भ में भी उत्पन्न होता है तो [तत्थ वि णिवडीकयंगपच्चंगो] वहाँ भी सिकुड़ रहे हैं हाथ, पैर आदि अंग तथा उंगली आदि प्रत्यंग जिसके ऐसा होता हुआ तथा [जोणीदो णिग्गममाणो वि] योनि से निकलते समय भी [तिव्वं दुक्खं विसहदि] तीव्र-दुःख को सहता है ।

+ मनुष्य-गति के और भी दुःख -

बालोपि पियर-चत्तो पर उच्छिट्ठेण बड्ढदे दुहिदो
एवं जायण-सीलो गमेदि कालं महादुक्खं ॥४६॥

अन्वयार्थ : [बालोपि पियरचत्तो परउच्छिट्ठेण बड्ढदे दुहिदो] बाल-अवस्था में ही माता-पिता मर जायँ तब दूसरों की झूठन से बड़ा हुआ [एवं जायणसीलो महादुक्खं कालं गमेदि]

इस तरह भीख माँग माँगकर उदर-पूर्ति करके महादुःखी होता हुआ काल बिताता है ।



+ पाप से दुखी, फिर भी पुण्य नहीं करता -

**पावेण जणो एसो दुक्कम्म-वसेण जायदे सव्वो
पुणरवि करेदि पावं ण य पुण्णं को वि अज्जेदि ॥४७॥**

अन्वयार्थ : [एसो सव्वो जणो पावेण दुक्कम्म-वसेण जायदे] इसप्रकार सब ही दुःखःरूप कर्म (असाता-वेदनीय, नीच-गोत्र, अशुभनाम, आयु आदि) के वश से दुःख सहता है [पुणरवि करेदि पावं] तो भी फिर पाप ही करता है [ण य पुण्णं को वि अज्जेदि] कुछ भी पुण्य (पूजा, दान, व्रत, तप ध्यानादि) को पैदा नहीं करता ।



+ पुण्य किसके द्वारा होते हैं ? -

**विरलो अज्जदि पुण्णं सम्मादिट्ठी वएहिं संजुत्तो
उवसमभावे सहिदो णिंदण-गरहाहिं संजुत्तो ॥४८॥**

अन्वयार्थ : [सम्मादिट्ठी वएहिं संजुत्तो] सम्यग्दृष्टि (यथार्थ-श्रद्धावान्) और (मुनि-श्रावक के) व्रतों से संयुक्त [उवसमभावे सहियो] उपशम भाव (मन्द कषायरूप परिणाम) सहित [णिंदणगरहाहिं संजुत्तो] निंदा (अपने दोष याद कर पश्चात्ताप करना), गर्हा (अपने दोष गुरु के पास जाकर प्रकट करना) इन दोनों से युक्त [विरलो पुण्णं अज्जदि] विरला ही ऐसा जीव है जो पुण्य प्रकृतियों का बंध करता है ।



+ पुण्यवान के भी इष्ट-वियोग सम्भव -

**पुण्ण-जुदस्स वि दीसदि इट्ठ-विओयं अणिट्ठ-संजोयं
भरहो वि साहिमाणो परिज्जिओ लहुय-भाएण ॥४९॥**

अन्वयार्थ : [पुण्णजुदस्स वि इट्ठविओयं दीसइ] पुण्य उदय सहित पुरुषों के भी इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग देखा जाता है [साहिमाणो भरहो वि लहुयभायेण परिज्जिओ] अभिमान सहित भरत-चक्रवर्ती भी छोटे भार्इ बाहुबली से पराजित हुआ ।



+ इसी को आगे और दृढ़ करते हैं -

सयलट्टु-विसय-जोओ बहु-पुण्णस्स वि ण सव्वहा होदि
तं पुण्णं पि ण कस्स वि सव्वं जेणिच्छिदं लहदि ॥५०॥

अन्वयार्थ : (इस संसार में) [सयलट्टुविसहजोओ] समस्त जो पदार्थ, (विषय / भोग्य वस्तु), उनका योग [अहुपुण्णस्स वि ण सव्वदो होदि] बड़े पुण्यवानों को भी पूर्णरूप से नहीं मिलता है [तं पुण्णं पि ण कस्स वि] ऐसा पुण्य किसी के भी नहीं है [जे सव्वं णिच्छिदं लहदि] जिससे सब ही मनवांछित मिल जाय ।



+ स्त्री / पुत्र / रोग सम्बन्धी दुःख -

कस्स वि णत्थि कलत्तं अहव कलत्तं ण पुत्त-संपत्ती
अह तेसिं संपत्ती तह वि सरोओ हवे देहो ॥५१॥

अन्वयार्थ : [कस्स वि कलत्तं] किसी मनुष्य के तो स्त्री नहीं हैं [अहव कलत्तं पुत्तसंपत्ती ण] किसी के यदि स्त्री हैं तो पुत्र की प्राप्ति नहीं है [अह तेसिं संपत्ती] किसी के पुत्र की प्राप्ति है [तह वि सरोओ हवे देहो] तो शरीर रोग सहित है ।



+ निर्धनता / मरण का दुःख -

अह णीरोओ देहो तो धण-धण्णाण णेय संपत्ती
अह धण-धण्णं होदि हु तो मरणं झत्ति दुक्केदि ॥५२॥

अन्वयार्थ : [अह णीरोओ देहो] यदि किसी के नीरोग शरीर भी हो [तो धणधण्णाण णेय सम्पत्ति] तो धन-धान्य की प्राप्ति नहीं है [अह धणधण्णं होदि हु] यदि धन-धान्य की भी प्राप्ति हो जाय [तो मरणं झत्ति दुक्केइ] तो शीघ्र-मरण हो जाता है ।



+ अनिष्ट संयोगज दुःख -

कस्स वि दुट्ठ-कलत्तं कस्स वि दुव्वसण-वसणिओ पुत्तो
कस्स वि अरिसमबंधू कस्स वि दुहिदा वि दच्चरिया ॥५३॥

अन्वयार्थ : [कस्स वि दुट्ठकलत्तं] किसी के तो स्त्री दुराचारिणी है [कस्स वि दुव्वसणवसणिओ पुत्तो] किसी का पुत्र जुआ आदि दुर्व्यसनों में रत है [कस्स वि अरिसमबंधू] किसी के शत्रु के समान कलही भाई है [कस्स वि दुहिदा वि दच्चरिया] किसी के पुत्री दुराचारिणी है ।



+ इष्ट-वियोगज दुःख -

मरदि सुपुत्तो कस्स वि कस्स वि महिला विणस्सदे इट्ठा
कस्स वि अग्नि-पलित्तं गिहं कुडंबं च डज्झेइ ॥५४॥

अन्वयार्थ : [कस्स वि सुपुत्तो मरदि] किसी का सुपुत्र मर जाता है [कस्स वि इट्ठा महिला विणस्सदे] किसी के इष्ट (प्यारी) स्त्री मर जाती है [कस्स वि अग्निपलित्तं गिहं च कुडंबं डज्झेइ] किसी के घर और कुटुम्ब सब ही अग्नि से जल जाते हैं ।



+ पाप को छोड़कर धर्म नहीं करता -

एवं मणुय-गदीए णाणा-दुक्खाइ विसहमाणो वि
ण वि धम्मे कुणदि मइं आरंभं णेय परिचयइ ॥५५॥

अन्वयार्थ : [एवं मणुयगदीए] इस तरह मनुष्य-गति में [णाणा दुक्खाइ] अनेक प्रकार के दुःखों को [विसहमाणो वि] सहता हुआ भी [धम्मे मइं ण वि कुणदि] धर्माचरण में बुद्धि नहीं करता है [आरंभं णेया परिचयइ] [और] पापारंभ को नहीं छोड़ता है ।



+ अनित्यता -

संधणो वि होदि णिधणो धण-हीणो तह य ईसरो होदि
राया वि होदि भिच्चो भिच्चो वि य होदि णरणाहो ॥५६॥

अन्वयार्थ : [संधणो वि होदि णिधणो] धन सहित तो निर्धन हो जाता है [तह य धणहीणो ईसरो होदि] वैसे ही जो धन-रहित होता है, सो इश्वर (धनी) हो जाता है [राया वि होदि भिच्चो] राजा भी किंकर (नौकर) हो जाता है [भिच्चो वि य होदि णर णाहो] और जो किंकर होता है, वह राजा हो जाता है ।



+ कर्म-वशता -

सत्तू वि होदि मित्तो मित्तो वि य जायदे तहा सत्तू
क म्म-विवाग -वसादो एसो संसार-सम्भावो ॥५७॥

अन्वयार्थ : [कम्भविवायवसादो] कर्म विपाक (उदय) के वश से [सत्तू वि मित्तो होदि] शत्रु भी मित्र हो जाता है [तहा मित्तो वि य सत्तू जायदे] और मित्र भी शत्रु हो जाता है [एसो संसारसम्भावो] ऐसा संसार का स्वभाव है ।



+ देवों के दुःख -

अह कह वि हवदि देवा तस्स वि जाएदि माणसं दुक्खं
दट्ठूण महद्दीणं देवाणं रिद्धि-संपत्ती ॥५८॥

अन्वयार्थ : [अहं कहवि देवो हवदि] अथवा बड़े कष्ट से देव भी होता है तो [तस्स] उसके [महद्दीणं देवाणं] बड़े ऋद्धिधारक देवों की [रिद्धिसंपत्तीदट्ठूण] ऋद्धि सम्पत्ति को देखकर [माणसं दुक्खं जायेदि] मानसिक दुःख उत्पन्न होता है ।



+ वियोग / तृष्णा का दुःख -

इट्ठ-विओगं दुक्खं होदि महद्दीणं विसय-तण्हादो
विसय-वसादो सुक्खं जेसिं तेसिं कुदो तिच्ची ॥५९॥

अन्वयार्थ : [विसयतण्हादो] विषयों की तृष्णा से [महद्दीण] महर्द्धिक देवों को भी [इट्ठविओगं दुक्खं होदि] इष्ट (ऋद्धि, देवांगना आदि) वियोग का दुःख होता है [जेसिं विसयवसादो सुक्खं] जिनके विषयों के आधीन सुख है [तेसिं कुतो तिच्ची] उनके कैसे तृप्ति होवे ?



+ मानसिक दुःख -

सारीरिय-दुक्खादो माणस-दुक्खं हवेइ अइ-पउरं
माणस-दुक्ख-जुदस्स हि विसया वि दुहावहा हुंति ॥६०॥

अन्वयार्थ : [सारीरियदुक्खादो] शारीरिक दुःख से [माणसदुक्खं] मानसिक दुःख [अइपर हवेइ] अतिप्रचुर (बहुत ज्यादा) है [माणसदुक्खजुदस्स हि] मानसिक दुःख सहित पुरूष के [विसया वि दुहावहा हुंति] अन्य विषय बहुत भी होवें तो भी वे उसको दुःखदाई ही दिखते हैं ।



+ विषयों में पराधिनता ही दुःख -

देवाणं पि य सुक्खं मणहर-विसएहिं कीरदे जदि हि
विसय -वसं जं सुक्खं दुक्खस्स वि कारणं तं पि ॥६१॥

अन्वयार्थ : [जदि ही देवाणं पिय मणहरविसएहिं सुक्खं कीरदे] यदि देवों के मनोहर विषयों से सुख समझा जावे तो सुख नहीं है [जं विषयवसं सुक्खं] जो विषयों के आधीन सुख है [तं पि दुक्खस्स वि कारणं] वह दुःख ही का कारण है ।



+ संसार में सभी जगह दुःख -

**एवं सुट्ठु-असारे संसारे दुक्ख-सायरे घोरे
किं कत्थ वि अत्थि सुहं वियारमाणं सुणिच्छयदो ॥६२॥**

अन्वयार्थ : [एवं सुट्ठु-असारे] इस तरह सब प्रकार से असार [दुक्खसायरे घोरे संसारे] दुःख के सागर भयानक संसार में [सुणिच्छयदो वियारमाणं] निश्चय से विचार किया जाय तो [किं कत्थ वि सुहं अत्थि] क्या कहीं भी कुछ सुख है ?



+ मोह का महात्मय -

**दुक्किय-कम्म-वसादो राया वि य असुइ-कीडओ होदि
तत्थेव य कुणइ रई पेक्ख ह मोहस्स माहप्पं ॥६३॥**

अन्वयार्थ : [मोहस्स माहप्पं पेक्खह] मोह के महात्म्य को देखो कि [दुक्कियकम्मसादो] पाप-कर्म के वश से [राया वि य असुइकीडओ होदि] राजा भी (मर कर) विष्ठा का कीड़ा हो जाता है [य तत्थेव रई कुणइ] और वहीं पर रति (प्रेम) करता है ।



+ विचित्र संयोग -

**पुत्तो वि भाउ जाओ सो चिय भाओ वि देवरो होदि
माया होदि सवत्ती जणणो वि य होदि भत्तारो ॥६४॥
एयम्मि भवे एदे संबंधा होंति एय-जीवस्स
अण्ण-भवे किं भणइ जीवाणं धम्म-रहिदाणं ॥६५॥**

अन्वयार्थ : [एयजीवस्स] एक जीव के [एयम्मि भवे] एक भव में [एदे सम्बन्धा होंति] इतने सम्बन्धी होते हैं तो [धम्मरहिदाणं जीवाणं] धर्म-रहित जीवों के [अण्णभवे किं भणइ] अन्यभव में क्या कहना ? [पुत्तो वि भाओ जाओ] पुत्र तो भाई हुआ [य सो वि भाओ देवरो होदि] और जो भाई था वह देवर हुआ । [माया होइ सवत्ती] माता थी वह सौत हुई [य जणणो वि भत्तारो होइ] और पिता था सो पति हुआ ।



+ पांच प्रकार का परिभ्रमण -

**संसारो पंच-विहो दव्वे खेत्ते तहेव काले य
भऊ-भम णो य चउत्थो पंचमओ भाव-संसारो ॥६६॥**

अन्वयार्थ : [संसारो पंचविहो] संसार (परिभ्रमण) पाँच प्रकार का है [द्रव्ये] द्रव्य (पुद्गल द्रव्य में ग्रहणत्यजनरूप परिभ्रमण) [खत्ते] क्षेत्र (आकाश के प्रदेशों में स्पर्श करने रूप परिभ्रमण) [य तहेव काले] तथा काल (काल के समयों में उत्पन्न / नष्ट होने रूप परिभ्रमण) [भवभमणो य चउत्थो] भव (नरकादि भव का ग्रहण त्यजनरूप परिभ्रमण) और [पंचमओ भावसंसारो] पांचवां भाव-परिभ्रमण (अपने कषाययोगों के स्थानकरूप भेदों के पलटनेरूप परिभ्रमण) ।



+ द्रव्य परावर्तन -

**बंधदि मुंचदि जीवो पडिसमयं कम्म-पुग्गला विविहा
णोकम्म-पुग्गला वि य मिच्छत्त-कसाय-संजुत्तो ॥६७॥**

अन्वयार्थ : [जीवो] यह जीव [विविहा कम्मपुग्गला णोकम्मपुग्गला वि स] अनेक प्रकार के पुद्गल जो कर्मरूप (ज्ञानावरणादि) तथा नोकर्मरूप (औदारिकादि शरीर आदि) हैं उनको [पडिसमयं] समय समय प्रति [मिच्छत्तकस, यसंजुत्तो] मिथ्यात्व कषाय सहित होता हुआ [बंधदि मुंचदि] बाँधता है और छोड़ता है ।



+ क्षेत्र परावर्तन -

**सो को वि णत्थि देसो लोयायासस्स णिरवसेसस्स
जत्थ ण सव्वो जीवो जादो मरिदो य बहुवारं ॥६८॥**

अन्वयार्थ : [णिरवसेस्स लोयायासस्स] समस्त लोकाकाश के प्रदेशों में [सो को वि देसो णत्थि] ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है [जत्थ सव्वो जीवो] जिसमें ये सब ही संसारी जीव [बहुवारं जादो य मरिदो ण] कई बार उत्पन्न न हुए हों तथा मरें न हों ।



+ काल परावर्तन -

**उवसप्पिणि-अवसप्पिणि-पढम-समयादि-चरम-समयंतं
जीवो कमेण जम्मदि मरदि य सव्वेसु कालेसु ॥६९॥**

अन्वयार्थ : [उवसप्पिणिअवसप्पिणि] उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल के [पढमसमयादिचरमसमयंतं] पहिले समये से लगाकर अन्त के समय तक [जीवो कमेण] यह जीव अनुक्रम से [सव्वेसु कालेसु] सब ही कालों में [जम्मदि य मरदि] उत्पन्न होता है तथा मरता है ।



+ भव परावर्तन -

णेरइयादि-गदीणं अवर-ट्टिदिदो वर-ट्टिदी जाव
सव्व-ट्टिदिसु वि जम्मदि जीवो गेवेज्ज-पज्जंतं ॥७०॥

अन्वयार्थ : [जीवो] संसारी जीव [णेरइयादिगदीणं] नरकादि चार गतियों की [अवरट्टिदो] जघन्य स्थिति से लगाकर [वरट्टिदी जाव] उत्कृष्ट स्थिति पर्यंत (तक) [सव्वट्टिदिसु] सब अवस्थाओं में [गेवेज्जपज्जंतं] त्रैवेयक पर्यन्त [जम्मदि] जन्म पाता है ।



+ भाव परावर्तन -

परिणमदि सण्णि-जीवो विविह-कसाएहिं ठिदि-णिमित्तेहिं
अणुभाग-णिमित्तेहि य वट्ठंतो भाव-संसारे ॥७१॥

अन्वयार्थ : [भावसंसारे वट्ठन्तो] भावसंसार में वर्तता हुआ जीव [ट्टिदिणिमित्तेहिं] अनेक प्रकार कर्म की स्थिति-बन्ध को कारण [य अणुभागणिमित्तेहिं] और अनुभाग-बन्ध को कारण [विविहकसाएहिं] अनेक प्रकार के कषायों से [सण्णिजीवो] सैनी-पंचेन्द्रिय जीव [परिणमदि] परिणमता है ।



+ उपसंहार -

एवं अणाइ-काले पंच-पयारे भमेइ संसारे
णाणा दुक्ख-णिहाणे जीवो मिच्छत्त-दोसेण ॥७२॥

अन्वयार्थ : [एवं] इस तरह [णाणादुक्खणिहाणो] अनेक प्रकार के दुःखो के निधान [पंचपयारे] पाँच प्रकार [संसारे] संसार में [जीवो] यह जीव [अणाइकालं] अनादिकाल से [मिच्छात्तदोसेण] मिथ्यात्व के दोष से [भमेइ] भ्रमण करता है ।



+ संसार से छूटने की प्रेरणा -

इय संसारं जाणिय मोहं सव्वायरेण चइऊणं
तं ज्ञायह स-सरू वं संसरणं जेण णासेइ ॥७३॥

अन्वयार्थ : [इय संसार जाणिय] इस तरह संसार को जानकर [सव्वायरेण] सब तरह के प्रयत्न-पूर्वक [मोहं] मोह को [चइऊण] छोड़कर [तं समरूपं ज्ञायह] उस आत्मस्वरूप का ध्यान करो [जेण] जिससे [संसरणं] संसार परिभ्रमण [णासेइ] नष्ट हो जावे ।



+ एकत्व अनुप्रेक्षा -

इक्को जीवो जायदि एक्को गब्भम्हि गिण्हदे देहं
इक्को बाल-जुवाणो इक्को बुहो जय-गहिओ ॥७४॥
इक्को रोई सोई इक्को तप्पेइ माणसे दुक्खे
इक्को मरदि वराओ णरय -दुहं सहदि इक्को वि ॥७५॥
इक्को संचदि पुण्णं एक्को भुंजेदि विविह-सुर-सोक्खं
इक्को खवेदि कम्मं इक्को वि य पावए मोक्खं ॥७६॥

अन्वयार्थ : [जीवो] जीव [इक्को] अकेला [जायदि] उत्पन्न होता है [इक्को] अकेला [गब्भम्हि] गर्भ में [देहं] देह को [गिहदे] ग्रहण करता है [इक्को बाल जुवाणो] अकेला बालक, जवान होता है [इक्को जरागहिओ बुहो] अकेला जरा (बुढ़ापे) से गृहीत वृद्ध होता है। [इक्को रोई मोई] अकेला रोगी, शोक-सहित होता है [इक्को] अकेला [माणसे दुक्खे] मानसिक दुःख से [तप्पेइ] तप्तायमान होता है [इक्को मरदि] अकेला मरता है [इक्को वि] अकेला [वराओ णरयदुहं सहदि] नरक के दुःख सहता है। [इक्को] अकेला [पुण्यं] पुण्य [संचादि] संचित करता है [इक्को] अकेला [विविहसुरसोक्खं] नाना प्रकार के देव-गति के सुख [भुज्जेदि] भोगता है [इक्को] अकेला [कम्मं] कर्म को [खवेदि] नष्ट करता है [इक्कोविय] अकेला ही [मोक्खं] मोक्ष को [पावए] पाता है।



+ स्वजन भी दुःख के साथी नहीं -

सुयणो पिच्छंतो वि हु ण दुक्ख-लेसं पि सक्कदे गहिदुं
एवं जाणंतो वि हु तो वि ममत्तं ण छंडेइ ॥७७॥

अन्वयार्थ : [सुयणो] स्वजन (कुटुम्बी) [पिच्छंतो वि हु] देखता हुआ भी [दुक्खलेसंपि] दुःख का लेश भी [गहिदुं] ग्रहण करने को [ण सक्कदे] समर्थ नहीं होता है [एवं जाणंतो वि हु] इस तरह प्रत्यक्षरूप से जानता हुआ भी [ममत्तं ण छंडेइ] कुटुम्ब से ममत्व नहीं छोड़ता है।



+ वास्तव में धर्म ही शरण -

जीवस्स णिच्छयादो धम्मो दह-लक्खणो हवे सुयणो
सो णेइ देव-लोए सो चिय दुक्ख-क्खयं कुणइ ॥७८॥

अन्वयार्थ : [जीवस्स] इस जीव के [सुयणो] अपना हितकारक [णिश्चयादी] निश्चय से [दहलक्खणो] एक उत्तम क्षमादि दशलक्षण [धम्मो] धर्म ही [हवे] है, [सो] वह धर्म ही [देवलोए] देवलोक [स्वर्ग] में [णेई] ले जाता है [सो चिय] और वह (धर्म) ही [दुक्खक्खयं कुणइ] दुःखों का क्षय [मोक्ष] करता है।



+ भेद-भावना की प्रेरणा -

**सव्वायरेण जाणह एक्कं जीवं सरीरदो भिण्णं
जम्हि दु मुणिदे जीवे होदि असेसं खणे हेयं ॥७९॥**

अन्वयार्थ : [इक्कं जीवं सरीरदो भिण्णं] अकेले जीव को शरीर से भिन्न [सव्वायरेण जाणह] सब प्रकार के प्रयत्न करके जानो [जम्हि दु जीवो मुणिदे] जिस जीव के जान लेने पर [असेस खणे हेयं होदि] अवशेष (बाकी बचे) सब पर-द्रव्य क्षण-मात्र में त्यागने योग्य होते हैं ।



अन्यत्व अनुप्रेक्षा



+ अन्यत्व अनुप्रेक्षा का स्वरूप -

**अण्णं देहं गिण्हदि जणणी अण्णा य होदि कम्मादो
अण्णं होदि कलत्तं अण्णो वि य जायदे पुत्तो ॥८०॥**

अन्वयार्थ : [देहं गिण्हदि] देह को ग्रहण करता है [अण्णं] सो अपने से अन्य (भिन्न) है [य] और [जणणी अण्णा] माता भी अन्य है [कलत्तं अण्णं होदि] स्त्री भी अन्य होती है [पुत्तो वि य अण्णो जायदे] पुत्र भी अन्य ही उत्पन्न होता है [कम्मादो होदि] ये सब कर्म संयोग से होते हैं ।



+ जानता हुआ भी अज्ञानी बनता है -

**एवं बाहिर-दव्वं जाणदि रूवाटु अप्पणो भिण्णं
जाणंतो वि हु जीवो तत्थेव हि रच्चदे मूढो ॥८१॥**

अन्वयार्थ : [एवं] इस प्रकार [वाहिरदव्वं] सब बाह्य वस्तुओं को [अप्पणो] अपने (आत्म) [रूवादु] स्वरूप से [भिण्णं] भिन्न [जाणदि] जानता है [जाणंतो वि हु] तो भी प्रत्यक्षरूप से जानता हुआ भी [मूढो] यह मूढ़ (मोही) [जीवो] जीव [तत्थेव य रच्चदे] उन पर-द्रव्यों में ही राग करता है ।



+ उपसंहार -

जो जाणिऊण देहं जीव-सरुवादु तच्चदो भिण्णं
अप्पाणं पि य सेवदि कज्ज-करं तस्स अण्णत्तं ॥८२॥

अन्वयार्थ : [जो] जीव [जीवसरूवादु] अपने स्वरूप से [देहं] देह को [तच्चदो भिण्ण] परमार्थ से भिन्न [जाणिऊण] जानकर [अप्पाणं पि य सेवदि] आत्म-स्वरूप को सेवता (ध्याता) है [तस्स अण्णत्तं कज्जकरं] उसके अन्यत्व-भावना कार्यकारिणी है ।



अशुचि अनुप्रेक्षा



+ अशुचि अनुप्रेक्षा का स्वरूप -

सयल-कुहियाण पिंडं किमि-कुल-कलियं अउच्च-दुग्गंधं
मल-मुत्ताण य गेहं देहं जाणेहि असुइमयं ॥८३॥

अन्वयार्थ : [देहं] इस देह को [असुइमयं] अपवित्रमयी [सयलकुहियाण पिंडं] सकल (सब) कुत्सित (निंदनीय) पदार्थों का पिंड (समूह) [किमिकुलकलियं] कृमि (पेटमें रहनेवाले लट आदि) तथा अनेक प्रकार के निगोदादिक जीवों से भरा [अउच्चदुग्गंधं] अत्यन्त दुर्गंधमय [मलमुत्ताणं य गेहं] मल-मूत्र का घर [जाणेहि] जान ।



+ दुर्गंधित देह -

सुट्ठु पवित्तं दव्वं सरस-सुगंधं मणोहरं जं पि देह-णिहित्तं जायदि धिणावणं सुट्ठुदुग्गंधं ॥८४॥

अन्वयार्थ : [देहणिहित्तं] इस शरीर में लगाये गये [सुट्ठुपवित्तं] अत्यन्त पवित्र [सरससुगंधं] सरस और सुगन्धित [मणाहरं जं पि] मन को हरनेवाले [दव्वं] द्रव्य भी [धिणावणं] धिनावने [सुट्ठुदुग्गंधं] तथा अत्यन्त दुर्गन्धित [जायदि] हो जाते हैं ।



+ इसी को और विस्तार से बताते हैं -

मणुयाणं असुइमयं विहिणा देहं विणिम्मियं जाण तेसिं विरमण-कज्जे ते पुण तत्थेव अणुरत्ता ॥८५॥

अन्वयार्थ : [मणुयाणं] यह मनुष्यों का [देहं] देह [विहिणा] कर्म के द्वारा [तेसिं विरमण-कज्जे] उससे विरक्त करने के लिए [असुइमयं] अशुचिमय [विणिम्मियं जाण] रचा गया जान [ते पुण तत्थेव अणुरत्ता] परन्तु ये मनुष्य उसमें भी अनुरागी होते हैं (सो यह अज्ञान है) ।



+ इसी को और विस्तार से बताते हैं -

एवंविहं पि देहं पिच्छंता वि य कुणंति अणुरायं सेवंति आयरेण य अलद्ध- पुव्वं ति मण्णंता ॥८६॥

अन्वयार्थ : [एवं विहं पि देहं] इस तरह पहिले कहे अनुसार अशुचि शरीर को [पिच्छंता वि य] प्रत्यक्ष देखता हुआ भी यह मनुष्य उसमें [अणुरायं] अनुराग [कुणंति] करता है [अलद्धपुव्वं ति मण्णंता] जैसे ऐसा शरीर कभी पहिले न पाया हो ऐसा मानता हुआ [आयरेण य सेवंति] आदरपूर्वक इसकी सेवा करता है (सो यह बड़ा अज्ञान है) ।



+ उपसंहार -

जो पर-देह-विरत्तो णिय-देहे ण य करेदि अणुरायं अप्प- सरू व-सुरत्तो असुइत्ते भावणा तस्स ॥८७॥

अन्वयार्थ : [जो] जो (भव्य जीव) [परदेहविरत्तो] परदेह (स्त्री आदिक की देह) से विरक्त होकर [णियदेहे] अपने शरीर में [अणुरायं] अनुराग [ण य करेदि] नहीं करता है [अप्पसरूव सुरत्तो] अपने आत्म-स्वरूप में अनुरक्त रहता है [तस्म] उसके [असुइत्ते भावणा] अशुचि-भावना है ।



आस्रव अनुप्रेक्षा



+ आस्रव अनुप्रेक्षा का स्वरूप -

**मण-वयण-काय-जोया जीव -पएसाण फंदण-विसेसा
मोहोदएण जुत्ता विजुदा वि य आसवा होंति ॥८८॥**

अन्वयार्थ : [मणवयणकायजोया] मन-वचन-काय योग हैं [आसवा होंति] वे ही आस्रव हैं [जीवपयेसाणफंदणविसेसा] जीव के प्रदेशों का स्पंदन (चलायमान होना, काँपना) विशेष है वह ही योग है [मोहोदएण जुत्ता विजुदा वि य] वह मोह के उदय (मिथ्यात्व कषाय) सहित है और मोह के उदय रहित भी है ।



+ मोह से आस्रव -

**मोह-विवाग-वसादो जे परिणामा हवंति जीवस्स
ते आसवा मुणिज्जसु मिच्छत्ताई अणेय-विहा ॥८९॥**

अन्वयार्थ : [मोहविवागवसोदो] मोह के उदय से [जे परिणामा] जो परिणाम [जीवस्स] इस जीव के [हवंति] होते हैं [ते आसवा] वे ही आस्रव हैं [मुणिज्जसु] हे भव्य । तू प्रत्यक्षरूप से ऐसे जान [मिच्छत्ताई अणेयविहा] वे परिणाम मिथ्यात्व को आदि लेकर अनेक प्रकार के हैं ।



+ आस्रव के दो प्रकार -

**कम्मं पुण्णं पावं हेउं तेसिं च होंति सच्छिदरा
मंद-कसाया सच्छा तिक्क-कसाया असच्छा हु ॥९०॥**

अन्वयार्थ : [कम्मं पुण्णं पावं] कर्म पुण्य और पाप के भेद से दो प्रकार का है [च तेसिं हेउं सच्छिदरा होंति] और उनके कारण भी सत् [प्रशस्त] इतर [अप्रशस्त] दो ही होते हैं [मंदकमाया मच्छा] उनमें मंद-कषाय परिणाम तो प्रशस्त (शुभ) है [तिक्ककमाया असच्छाहु] और तीव्र-कषाय परिणाम अप्रशस्त [अशुभ] है ।

+ मन्द-कषाय -

सव्वत्थ वि पिय-वयणं दुव्वयणे दुज्जणे वि खम-करणं
सव्वेसिं गुण-गहणं मंद-क सायाण दिट्ठंता ॥९१॥

अन्वयार्थ : [सव्वत्थ वि पियवयणं] सब जगह (शत्रु तथा मित्र आदि में) प्रिय हितरूप वचन [दुव्वयणे दुज्जणे वि खमकरणं] दुर्वचन सुनकर दुर्जन में भी क्षमा करना [सव्वेसिं गुणगहणं] सब जीवों के गुण ग्रहण करना [मंदकसायाण दिट्ठंता] ये मन्दकषाय के दृष्टान्त हैं ।

+ तीव्र-कषाय -

अप्प-पंससण-करणं पुज्जेसु वि दोस-गहण-सीलत्तं
वेर -धरणं च सुइरं तिव्व कसायाण लिंगाणि ॥९२॥

अन्वयार्थ : [अप्पपसंसण करणं] अपनी प्रशंसा करना [पुज्जेसु वि दोसगहणसीत्तं] पूज्य पुरुषों में भी दोष ग्रहण करने का स्वभाव [च सुइरं वेरधरणं] और बहुत समय तक बैर धारण करना [तिव्वकसायाण लिंगाणि] ये तीव्र-कषाय के चिन्ह हैं ।

+ आस्रव को हे जानकर त्यागने की प्रेरणा -

वं जाणंतो वि हु परिचयणीए वि जो ण परिहरइ
तस्सासवाणुवेक्खा सव्वा वि णिरत्थया होदि ॥९३॥

अन्वयार्थ : [एवं जाणंतो वि हु] इस प्रकार से प्रत्यक्षरूप से जानता हुआ भी [परिचयणीये वि जो ण परिहरइ] जो त्यागने योग्य परिणामों को नहीं छोड़ता है [तस्स] उसके [सव्वा वि] सब ही [आसवाणुवेक्खा] आस्रव का चिंतवन [णिरत्थया होदि] निरर्थक है ।

+ उपसंहार -

एदे मोहय-भावा जो परिवज्जेइ उवसमे लीणो
हेयं ति मण्णमाणो आसव-अणुवेहणं तस्स ॥९४॥

अन्वयार्थ : [जो] जो [उपसमे लीणो] उपशम परिणामों (वीतराग भावों में) लीन होकर [एदे मोहयभावा] ये पहिले कहे अनुसार मोह को [हेयं ति मण्णमाणो परिवज्जेइ] हेय (त्यागने योग्य) जानता हुआ छोड़ता है [तस्स आसव अणुवेहणं] उसके आस्रवानुप्रेक्षा होती है ।



संवर अनुप्रेक्षा



+ संवर अनुप्रेक्षा का स्वरूप -

**सम्मत्तं देसं-वयं महव्वयंतह जओ क सायाणं
एदे संवर-णामा जोगाभावो तहा चेव ॥९५॥**

अन्वयार्थ : [सम्मत्तं] सम्यक्त्व [देशवयं] देशव्रत [महव्वयं] महाव्रत [तह] तथा [कसायाणं] कषायों का [जओ] जीतना [जोगाभावो तहा चेव] तथा योगों का अभाव [एदे संवरणामा] ये संवर के नाम हैं ।



+ इसी का विशेष कहते हैं -

**गुत्ती समिदी धम्मो अणुवेक्खा तह य परिसह -जओ वि
उक्कि ढुं चारित्तं संवर-हेदू विसेसेण ॥९६॥**

अन्वयार्थ : [गुत्ती] (मन-वचन-काय की) गुप्ति [समिदी] (ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और प्रतिष्ठापना) समिति [धम्मो] उत्तम क्षमादि दशलक्षण धर्म [अणुवेक्खा] अनित्य आदि बारह अनुप्रेक्षा [तह परीसहजओ वि] तथा क्षुधा आदि बाईस परीषह का जीतना [उक्किढुं चारित्तं] उत्कृष्ट चारित्र (सामायिक आदि पाँच प्रकार) ये [विसेसेण] विशेषरूप से [संवेरहेदू] संवर के कारण हैं ।



+ और भी -

**गुत्ती जोग-णिरहो समिदी य पमाद वज्जणं चेव
धम्मो दया-पहाणो सुतत्त -चिंता अणुप्पेहा ॥९७॥**

अन्वयार्थ : [जोगणिरोहो] योगों का निराध [गुत्ती] गुप्ति है [समिदि य पमादवज्जणं चेव] प्रमाद का वर्जन, यत्न-पूर्वक प्रवृत्ति समिति है [दयापहाणो] दयाप्रधान [धम्मो] धर्म है [सुतत्तं-चिंता अणुप्पेहा] जीवादिक तत्व तथा निज-स्वरूप का चिंतन अनुप्रेक्षा है ।



+ परीषह जय -

सो वि परीसह-विजओ छुहादि -पीडाण अइ-रउद्दाणं
सवणाणं च मुणीणं उवसम-भावेण जं सहणं ॥९८॥

अन्वयार्थ : [जं] जो [अइरउद्दाणं] अति रौद्र (भयानक) [छुहादि पीडाण] क्षुधा आदि पीडाओं को [उवसमभावेण सहणं] उपशमभावों [वीतरागभावों] से सहना (सो) [सवणाणं च मुणीणं] ज्ञानी महामुनियों के [परीसहविजओ] परीषहों का जीतना कहलाता है ।



+ चारित्र -

अप्प-सरू वं वत्थुं चत्तं रायादिएहि दोसेहिं
सज्झाणम्मि णिलीणं तं जाणसु उत्तमं चरणं ॥९९॥

अन्वयार्थ : जो [अप्पसरूवं वत्थुं] आत्म-स्वरूप वस्तु है उसका [चत्तं रायादिएहिं दोसेहिं] रागादि दोषों से रहित [सज्झाणम्मि णिलीणं] धर्म शुक्ल ध्यान में लीन होना है [तं] उसको [उत्तम चरणं] तू उत्तम चारित्र [जाणसु] जान ।



+ संवर बिना भव-भ्रमण -

एदे संवर-हेट्ठ विचारमाणो वि जो ण आयरइ
सो भमइ चिरं कालं संसारे दुक्ख-संतत्तो ॥१००॥

अन्वयार्थ : [जो] जो पुरुष [एदे] इन (पहिले कहे अनुसार) [संवरहेट्ठ] संवर के कारणों को [वियारमाणो वि] विचारता हुआ भी [ण आयरइ] आचरण नहीं करता [दुक्खसंतत्तो] दुःखों से तप्तायमान होकर [चिरं कालं] बहुत समय तक [संसारे] संसार में [भमइ] भ्रमण करता है ।



+ उपसंहार -

जो पुण विसय -विरत्तो अप्पाणं सव्वदो वि संवरइ
मणहर-विसएहिंतो तस्स फुडं संवरो होदि ॥१०१॥

अन्वयार्थ : [जो] जो [विसयविरत्तो] इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होता हुआ [मणहरविसएहिंतो] मन को प्रिय लगनेवाले विषयों से [अप्पाणं] आत्मा को [सुव्वदा] सदाकाल (हमेशा) [संवरइ] संवररूप करता है [तस्स फुडं संवरो होदि] उसके प्रगटरूप से संवर होता है ।



निर्जरा अनुप्रेक्षा



+ निशल्य तप द्वारा निर्जरा -

बारस-विहेण तवसा णियाण-रहियस्स णिज्जरा होदि
वेरग्ग-भावणादो णिरहंकारस्स णाणिस्स ॥१०२॥

अन्वयार्थ : [णियाणरहियस्स] निदान (इन्द्रियविषयों की इच्छा) रहित [णिरहंकारस्स] अहंकार [अभिमान] रहित [णाणिस्स] ज्ञानी के [वारसविहेण तवसा] बारह प्रकार के तप से तथा [वेरग्गभावणादो] वैराग्य-भावना (संसार-देह-भोग से विरक्त परिणाम) से [णिज्जरा होदि] निर्जरा होती है ।



+ निर्जरा का स्वरूप -

सव्वेसिं क म्माणं सत्ति -विवाओ हवेइ अणुभाओ
तदणंतरं तु सडणं क म्माणं णिज्जरा जाण ॥१०३॥

अन्वयार्थ : [सव्वेसिं कम्माणं] समस्त ज्ञानावरणादिक अष्टकर्मों की [सत्तिविवाओ] शक्ति (फल देने की सामर्थ्य) विपाक (पकना-उदय होना) [अणुभाओ] अनुभाग [हवेइ] कहलाता है [तदणंतरं तु सडणं] उदय आने के अनन्तर ही झड़ जाने को [कम्माणं णिज्जरा जाण] कर्मों की निर्जरा जानना चाहिये ।

+ निर्जरा के दो प्रकार -

सा पुण दुविहा णेया सकाल-पत्ता तवेण कयमाणा
चटुगदीण पढमा वय-जुत्ताणं हवे बिदिया ॥१०४॥

अन्वयार्थ : [सा पुण दुविहा णेया] वह पहिले कही हुई निर्जरा दो प्रकार की है [सकालपत्ता] एक तो स्वकाल प्राप्त [तवेण कयमाणा] दूसरी तप द्वारा की गई [चाटुगदीणं पढमा] उनमें पहली स्वकाल-प्राप्त निर्जरा तो चतुर्गति के जीवों के होती है [वयुजुत्ताणं हवे बिदिया] दूसरी व्रत-युक्त (तप) के होती है ।

+ निर्जरा कैसे बढ़ती है? -

उवसम-भाव-तवाणं जह जह वही हवेइ साहूणं
तह तह णिज्जर-वही विसेसदो धम्म-सुक्कादो ॥१०५॥

अन्वयार्थ : [साहूणं] मुनियों के [जह जह] जैसे-जैसे [उवसमभावतवाणं] उससमभाव तथा तप की [वही हवेइ] बढ़वारी होती है [तह तह णिज्जर वही] वैसे-वैसे ही निर्जरा की बढ़वारी होती है [धम्मसुक्कादो] धर्मध्यान और शुक्लध्यान से [विसेसदो] विशेषता से बढ़वारी होती है ।

+ निर्जरा की वृद्धि के स्थान -

मिच्छादो सद्धिट्ठी असंख-गुण-कम्म-णिज्जरा होदि
तत्तो अणुवय-धारी तत्तो य महव्वई णाणी ॥१०६॥
पढम-कसाय-चउण्हं विजोजओ तह य खवय-सीलो य
दंसण-मोह-तियस य तत्तो उवसमगं -चत्तारि ॥१०७॥
खवगो य खीण-मोहो सजोइ-णाहो तहा अजोईया
एदे उवरिं उवरिं असंख-गुण-कम्म-णिज्जरया ॥१०८॥

अन्वयार्थ : [मिच्छादो] मिथ्यादृष्टि से [सद्धिट्ठी] (असंयत) सम्यग्दृष्टि के [असंखगुणकम्मणिज्जरा होदि] असंख्यातगुणी कर्मों की निर्जरा होती है [तत्तो अणुवयधारी] उससे देशव्रती श्रावक के असंख्यात गुणी होती है [तत्तो य महव्वई णाणी] उससे महाव्रती मुनियों के असंख्यात गुणी होती है [पढमकसायचउण्हं विजोजओ] उससे अनन्तानुबन्धी कषाय का विसंयोजन [अप्रत्याख्यानादिकरूप परिणमान] करनेवाले के असंख्यात गुणी होती है [य दंसणमोहतियस्स य खवयसीलो] उससे दर्शनमोह के क्षय

करनेवाले के असंख्यात गुणी होती है **[खवगो य]** उससे उपशान्तमोह (ग्यारहवें गुणस्थानवाले) के असंख्यात गुणी होती है, उससे क्षपकश्रेणी वाले तीन गुणस्थानों में असंख्यात गुणी होती है **[खीणमोहो]** उससे क्षीणमोह बारहवें गुणस्थान में असंख्यात गुणी होती है **[सजोइणाहो]** उससे सयोगकेवली के असंख्यात गुणी होती है **[तहा अजाईया]** उससे अयोगकेवली के असंख्यात गुणी होती है **[एदे उवरि उवरि असंखगुणकम्मणिज्जरया]** ये ऊपर-ऊपर असंख्यात गुणाकार हैं इसलिये इनको गुणश्रेणी निर्जरा कहते हैं ।



+ अधिक निर्जरा के उपाय -

**जो विसहदि दुव्वयणं साहम्मिय हीलणं च उवसगं
जिणिऊण कसाय-रिउं तस्स हवे णिज्जरा विउला ॥१०९॥**

अन्वयार्थ : [जो] मुनि [दुव्वयणं] दुर्वचन [सहदि] सहता है [साहम्मियहीलणं] साधर्मी (जो अन्य मुनि आदिक) द्वारा किये गये अनादर को सहता है [च उवसगं] तथा (देवादिकों से किये गये) उपसर्ग को सहता है [कसायरिउं] कषायरूप बैरी को [जिणिऊण] जीत कर जो ऐसे करता है [तस्स] उसके [विउला] विपुल [बड़ी] [णिज्जरा] निर्जरा [हवे] होती है ।



+ विज्ञानघन निर्ममत्व आत्म-सम्मुख के निर्जरा -

**रिण-मायणं व मण्णइ जो उवसगं परीसहं तिव्वं
पाव-फलं मे एदं मया वि जं संचिदं पुव्वं ॥११०॥
जो चिंतेइ सरीरं ममत्त-जणयं विणस्सरं असुइं
दंसण-णाण-चरित्तं सुह-जायं णिम्मलं णिच्चं ॥१११॥**

अन्वयार्थ : [जो] जो [उवसगं] उपसर्ग को तथा [तिव्वं] तीव्र [परीसहं] परिषह को [रिणमोयणं व मण्णइ] ऋण (कर्ज) की तरह मानता है कि [एदे] ये [मया वि जं पुव्वं संचिदं] मेरे द्वारा पूर्व-जन्म में संचित किये गये [पावफलं] पाप-कर्मों का फल है । [जो] जो [सरीरं] शरीर को [ममत्तजणयं] ममत्व [मोह] को उत्पन्न करानेवाला [विणस्सरं] विनाशीक [असुइं] तथा अपवित्र [चिंतेइ] मानता है और [सुहजणयं] सुख को उत्पन्न करनेवाले [णिम्मलं] निर्मल [णिच्चं] तथा नित्य [दंसणणाणचरित्तं] दर्शनज्ञान-चारित्ररूपी आत्मा का [चिंतेइ] चिंतवन [ध्यान] करता है उसके बहुत निर्जरा होती है ।



+ विनम्र के निर्जरा -

अप्पाणं जो णिंदइ गुणवंताणं करेइ बहु-माणं
मण-इंदियाण विजई स सरूव-परायणो होउ ॥११२॥
तस्स य सहलो जम्मो तस्स य पावस्स णिज्जरा होदि
तस्स य पुण्णं वह्मदि तस्स वि सोक्खं परं होदि ॥११३॥

अन्वयार्थ : [अप्पाणं जो णिंदइ] अपनी जो निंदा करता है, [गुणवंताणं बहुमाणं करेदि] गुणवान पुरूषों का बड़ा आदर करता है, [मणइंदियाण विजई] अपने मन व इन्द्रियों को जीतनेवाला [स सरूपरायणो होउ] वह अपने स्वरूप में तत्पर होता है ।
[तस्स य सहलो जम्मो] उसी का जन्म सफल है [तस्स वि पावस्स णिज्जरा होदि] उसी के पाप-कर्म की निर्जरा होती है [तस्स वि पुण्णं वह्मदि] उसी के पुण्य-कर्म का अनुभाग बढ़ता है [तस्स वि सोक्खं परं होदि] और उसी को उत्कृष्ट सुख (मोक्ष) प्राप्त होता है ।



+ उपसंहार -

जो सम-सोक्ख -णिलीणो वारंवारं सरेइ अप्पाणं
इंदिय-कसाय-विजई तस्स हवे णिज्जरा परमा ॥११४॥

अन्वयार्थ : जो मुनि समतारूपी सुख में लीन हुआ, बार-बार आत्मा का स्मरण करता है, इन्द्रियों और कषायों को जीतने वाले उसी साधु के उत्कृष्ट निर्जरा होती है ।



लोक अनुप्रेक्षा



+ लोक-अनुप्रेक्षा का स्वरूप -

सव्वायासमणंतं तस्स य बहु-मज्झ-संठि ओ लोओ
सो केण वि णेव कओ ण य धरिओ हरि-हरादीहिं ॥११५॥

अन्वयार्थ : यह समस्त आकाश अनन्त-प्रदेशी है । उसके ठीक मध्य में भले प्रकार से लोक स्थित है । उसे किसी ने बनाया नहीं है, और न हरि / हर वगैरह उसे धारण ही किये हुए हैं ।



+ लोक नित्य है -

**अण्णोण्ण-पवेसेण य दव्वाणं अच्छणं हवे लोओ
दव्वाणं णिच्चत्तो लोयस्स वि मुण्ह णिच्चत्तं ॥११६॥**

अन्वयार्थ : द्रव्यों की परस्पर में एक-क्षेत्रावगाहरूप स्थिति को लोक कहते हैं । द्रव्य नित्य है, अतः लोक को भी नित्य जानो ।



+ परिणमन वस्तु का स्वभाव -

**परिणाम-सहावादो पडिसमयं परिणमंति दव्वाणि
तेसिं परिणामादो लोयस्स वि मुण्ह परिणामं ॥११७॥**

अन्वयार्थ : परिणमन करना वस्तुका स्वभाव है अतः द्रव्य प्रति-समय परिणमन करते हैं । उनके परिणमन से लोका का भी परिणमन जानो ।



+ लोक का विस्तार -

**सत्तेक -पंच-इक्का मूले मज्झे तहेव बंभंते
लोयंते रज्जूओ पुव्वावरदो य वित्थारो ॥११८॥**

अन्वयार्थ : पूरब-पश्चिम दिशा में लोक का विस्तार मूल में अर्थात् अधोलोक के नीचे सात राजू है । अधोलोक से ऊपर क्रमशः घटकर मध्यलोक में एक राजू का विस्तार है । पुनः क्रमशः बढ़कर ब्रह्म-लोक स्वर्ग के अन्त में पाँच राजू का विस्तार है । पुनः क्रमशः घटकर लोक के अन्त में एक राजू का विस्तार है ।



+ लोक का घन -

**दक्खिण-उत्तरदो पुण सत्त वि रज्जू हवंति सव्वत्थ
उहं चउदह रज्जू सत्त वि रज्जू घणो लोओ ॥११९॥**

अन्वयार्थ : दक्षिण-उत्तर दिशा में सब जगह लोक का विस्तार सात राजू है । ऊँचाई चौदह राजू है और क्षेत्रफल सात राजू का घन अर्थात् 343 राजू है ।



+ तीन लोक -

मेरुस्स हिट्ठ-भाए सत्त वि रज्जू हवेइ अह-लोओ
उहम्मि उह-लोओ मेरु-समो मज्झिमो लोओ ॥१२०॥

अन्वयार्थ : मेरू-पर्वत के नीचे सात राजू प्रमाण अधोलोक है । ऊपर ऊर्ध्व-लोक है ।
मेरूप्रमाण मध्य लोक है ।



+ लोक की परिभाषा -

दीसंति जत्थ अत्था जीवादीया स भण्णदे लोओ
तस्स सिहरम्मि सिद्धा अंत-विहीणा विरायंते ॥१२१॥

अन्वयार्थ : जहाँ पर जीव आदि पदार्थ देखे जाते हैं, उसे लोक कहते हैं । उसके शिखर पर
अनन्त सिद्ध परमेष्ठी विराजमान हैं ।



+ जीव-द्रव्य -

एइंदिएहिं भरिदो पंच-पयारेहिं सव्वदो लोओ
तस-णाडीए वि तसा णबाहिरा होंति सव्वत्थ ॥१२२॥

अन्वयार्थ : यह लोक पाँच प्रकार के ऐन्द्रिय जीवों से सर्वत्र भरा हुआ है । किन्तु त्रस-जीव
त्रसनाली में ही होते हैं, उसके बाहर सर्वत्र नहीं होते ।



+ बादर और सूक्ष्म -

पुण्ण वि अपुण्ण वि य थूला जीवा हवंति साहारा
छव्विह -सुहुमा जीवा लोयायासे वि सव्वत्थ ॥१२३॥

अन्वयार्थ : पर्याप्तक और अपर्याप्तक, दोनों ही प्रकार के बादर जीव आधार सहित रहते हैं ।
और छह प्रकार के सूक्ष्म जीव समस्त लोकाकाश में रहते हैं ।



+ बादर-सूक्ष्म का विस्तार -

पुढवी -जलग्गि-वाऊ चत्तारि वि होंति बायरा सुहुमा
साहारण-पत्तेया वणप्फ दी पंचमा दुविहा ॥१२४॥

अन्वयार्थ : पुढवी -जलग्गि-वाऊ चत्तारि वि होंति बायरा सुहुमा
साहारण-पत्तेया वणप्फ दी पंचमा दुविहा ॥१२४॥



+ निगोद जीव -

साहारणा वि दुविहा अणाइ -काला य साइ-काला य
ते वि य बादर-सुहमा सेसा पुण बायरा सव्वे ॥१२५॥

अन्वयार्थ : साहारणा वि दुविहा अणाइ -काला य साइ-काला य
ते वि य बादर-सुहमा सेसा पुण बायरा सव्वे ॥१२५॥



+ साधारण जीव -

साहारणाणि जेसिं आहारुस्सास-काय-आऊणि
ते साहारण-जीवा णंताणंत-प्पमाणाणं ॥१२६॥

अन्वयार्थ : साहारणाणि जेसिं आहारुस्सास-काय-आऊणि
ते साहारण-जीवा णंताणंत-प्पमाणाणं ॥१२६॥



+ सूक्ष्म और बादर का स्वरूप -

ण य जेसिं पडिखलणं पुढवी -तोएहिं अग्गि-वाएहिं
ते जाण सुहुम-काया इयरा पुण थूल-काया य ॥१२७॥

अन्वयार्थ : ण य जेसिं पडिखलणं पुढवी -तोएहिं अग्गि-वाएहिं
ते जाण सुहुम-काया इयरा पुण थूल-काया य ॥१२७॥



+ प्रत्येक और त्रस जीव का स्वरूप -

पत्तेया वि य दुविहा णिगोद-सहिदा तहेव रहिया य
दुविहाहिं त तसावियवि-ति-चउरक्खातहवे पचं क्खा ॥१२८॥

अन्वयार्थ : पत्तेया वि य दुविहा णिगोद-सहिदा तहेव रहिया य
दुविहाहिं त तसावियवि-ति-चउरक्खातहवे पचं क्खा ॥१२८॥



+ पंचेन्द्रिय जीवों के भेद -

**पंचक्खा वि य तिविहा जल-थल-आयास-गामिणो तिरिया
पत्तेयं ते दुविहा मणेण जुत्ता अजुत्ता य ॥१२९॥**

अन्वयार्थ : पंचक्खा वि य तिविहा जल-थल-आयास-गामिणो तिरिया
पत्तेयं ते दुविहा मणेण जुत्ता अजुत्ता य ॥१२९॥



+ गर्भज, सम्मूर्छन, भोग-भूमिज -

**ते वि पुणो वि य दुविहा गब्भज-जम्मा तहेव संमुच्छा
भोग- भवुा गब्भ-भवुा थलयर-णह -गामिणो सण्णी ॥१३०॥**

अन्वयार्थ : ते वि पुणो वि य दुविहा गब्भज-जम्मा तहेव संमुच्छा
भोग- भवुा गब्भ-भवुा थलयर-णह -गामिणो सण्णी ॥१३०॥



**अट्ठ वि गब्भज दुविहा तिविहा संमुच्छिणो वि तेवीसा
इदि पणसीदी भेया सव्वेसिं होंति तिरियाणं ॥१३१॥**



**अज्जव-मिलेच्छ -खंडे भोग-महीसु वि कुभोग-भूमीसु
मणुया हवन्ति दुविहा णिव्वित्ति-अपुण्णगा पुण्णा ॥१३२॥**



**संमुच्छिया मणुस्सा अज्जव-खंडेसु होंति णियमेण
ते पुण लद्धि -अपुण्णा णारय-देवा वि ते दुविहा ॥१३३॥**



आहार-सरीरिंदिय -णिस्सासुस्सास-भास -मणसाणं
परिणइ वावारेसु य जाओ छ च्चेव सत्तीओ ॥१३४॥



तस्सेव कारणाणं पुग्गल-खंधाण जा हु णिप्पत्ती
सा पज्जत्ती भण्णदि छब्भेया जिणवरिंदेहिं ॥१३५॥



पज्जत्तिं गिण्हंतो मणु-पज्जत्तिं ण जाव समणोदि
ता णिव्वत्ति-अपुण्णो मण -पुण्णो भण्ण दे पुण्णो ॥१३६॥



उस्सासट्टारसमे भागे जो मरदि ण य समाणेदि
एक्को वि य पज्जत्ती लद्धि-अपुण्णो हवे सो दु ॥१३७॥



लद्धियपुण्णे पुण्णं पज्जत्ती एयक्ख-वियल-सण्णीणं
चट्ठपण छक्कं क मसो पज्जत्तीए वियाणेह ॥१३८॥



मण-वयण-काय-इंदिय-णिस्सासुस्सास-आउ-उदयाणं
जेसिं जोए जम्मदि मरदि विओगम्मि ते वि दह पाणा ॥१३९॥



एयक्खे चट्ठ पाणा बि-ति-चउरिंदिय-असण्णि-सण्णीणं
छह सत्त अट्ठ णयं दह पुण्णाणं कमे पाणा ॥१४०॥



दुविहाणमपुण्णाणं इगिवित्तिचउरक्ख अंतिम-दुगाणं
तिय चउ पण छह सत्त य कमेण पाणा मुणेयव्वा ॥१४१॥



वि-ति-चउरक्खा जीवा हवंति णियमेण कम्म-भूमीसु
चरिमे दीवे अद्धे चरम समुद्धे वि सव्वेसु ॥१४२॥



माणुस-खित्तस्स बहि चरिम दीवस्स अद्धयं जाव
सव्वत्थे वि तिरिच्छा हिमवद -तिरिएहिं सारिच्छा ॥१४३॥



लवणोए कालोए अंतिम -जलहिम्मि जलयरा संति
सेस-समुद्धेसु पुणो ण जलयरा संति णियमेण ॥१४४॥



खरभाय-पंकभाए भावण-देवाण होंति भवणाणि
विंतर -देवाण तहा दुण्हं पि य तिरिय-लोयम्मि ॥१४५॥



जोइसियाण विमाणा रज्जू-मित्ते वि तिरिय-लोए वि
कप्प-सुरा उहम्मि य अह-लोए होंति णेरइया ॥१४६॥



बादर -पज्जत्ति-जुदा घण-आवलिया असंख-भागा दु
किंचूण -लोय-मित्ता तेऊ वाऊ जहा-कमसो ॥१४७॥



पुढवी-तोय -सरीरा पत्तेया वि य पइट्टिया इयरा
होंति असंखा सेढी पुण्णापुण्णा य तह य तसा ॥१४८॥



बादरलद्धि-अपुण्णा असंखलोया हवन्ति पत्तेया
तह य अपण्णा सुहुमा पुण्णा वि य संखगुणगणिया ॥१४९॥



सिद्धा संति अणंता सिद्धाहिंतो अणंत-गुण-गुणिया
होंति णिगोदा जीवा भागमणंतं अभव्वा य ॥१५०॥



सम्मुच्छिमा हु मणुया सेढिय संखिज्ज-भाग-मिता हु
गब्भज-मणुया सव्वे संखिज्जा होंति णियमेण ॥१५१॥



देवा वि णारया वि य लद्धियपुण्णा हु संतरा होंति
सम्मुच्छियां वि मणुया सेसा सव्वे णिरंतरया ॥१५२॥



मणुयादो णेरइया णेरइयादो असंख-गुण-गुणिया
सव्वे हवन्ति देवा पत्तेय-वणप्फ दी तत्तो ॥१५३॥



पंचक्खा चउरक्खा लद्धियपुण्णा तहेव तेयक्खा
वये क्खा वि य क मसो विससे -सहिदा हु सव्व-संखाए ॥१५४॥



चउरक्खा पंचक्खा वेयक्खा तह य जाणं तेयक्खा
एदे पज्जत्ति-जुदा अहिया अहिया क मेणेव ॥१५५॥



परिवज्जिय सुहुमाणं सेस-तिरक्खाण पुण्ण-देहाणं
इक्को भागो होदि हु संखातीदा अपुण्णाणं ॥१५६॥



सुहुमापज्जत्ताणं इक्को भागो हवेदि णियमेण
संखिज्जा खलु भागा तेसिं पज्जत्ति-देहाणं ॥१५७॥



संखिज्ज-गुणा देवा अंतिम- पडलादु आणदं जाव
तत्तो असंख-गुणिदा सोहम्मं जाव पडिपडलं ॥१५८॥



सत्तम-णारयहिंतो असंख-गुणिदा हवंति णेरइया
जाव य पढमं णरयं बहु-दुक्खा होंति हेट्ठिट्ठा ॥१५९॥



कप्प-सुरा भावणया वितर-देवा तहेव जोइसिया
बे हुंति असंख-गुणा संख-गुणा होंति जोइसिया ॥१६०॥



पत्तेयाणं आऊ वास-सहस्साणि दह हवे परमं
अंतो मुहुत्तमाऊ साहारण-सव्व-सुहुमाणं ॥१६१॥



बावीस-सत्त-सहसा पुढवी-तोयाण आउसं होदि
अग्गीणं तिण्णि दिणा तिण्णि सहस्साणि वाऊणं ॥१६२॥



बारस-वास वियक्खे एगुणवण्णा दिणाणि तेय क्खे
चउरक्खे छम्मासा पंचक्खे तिण्णि पल्लाणि ॥१६३॥



सव्व-जहण्णं आऊ लद्धि-अपुण्णाण सव्व-जीवाणं
मज्झिम-हीण-महुत्तं पज्जत्ति-जुदाण णिकिट्ठं ॥१६४॥



देवाण णारयाणं सायर-संखा हवंति तेतीसा
उक्किट्ठं च जहण्णं वासाणं दस सहस्साणि ॥१६५॥



अंगुल-असंख-भागो एयक्ख -चउक्ख-देह-परिमाणं
जोयण -सहस्स-महियं पउमं उक्कस्सयं जाण ॥१६६॥



वारस-जोयण संखो कोस -तियं गोब्भिया समुद्दिट्ठा
भमरो जोयणमेगं सहस्स संमुच्छिमो मच्छो ॥१६७॥



पंच-सया धणु-छेहा सत्तम-णरए हवंति णारइया
तत्तो उस्सेहेण य अद्धद्धा होंति उवरुवरिं ॥१६८॥



असुराणं पणवीसं सेसं णव-भावणा य दह-दंडं
विंतर-देवाण तहा जोइसिया सत्त-धणु देहा ॥१६९॥



दुग-दु-चदु-चदु-दुग-कप्प-सुराणं सरीर-परिमाणं
सत्तच्छ -पंच-हत्था चउरो अद्धद्ध-हीणा य ॥१७०॥



हिट्ठिम-मज्झिम-उवरिम-गेवज्जे तह विमाण चउदसए
अद्ध-जुदा वे हत्था हीणं अद्धद्धयं उवरिं ॥१७१॥



अवसप्पिणीए पढमे काले मणुया ति-कोस-उच्छेहा
छट्ठस्स वि अवसाणे हत्थ-पमाणा विवत्था य ॥१७२॥



सव्व-जहण्णो देहो लद्धि-अपुण्णाण सव्व-जीवाणं
अंगुल-असंख-भागो अणेय-भेओ हवे सो वि ॥१७३॥



वि-ति-चउ-पंचक्खाणं जहण्ण-देहो हवेइ पुण्णाणं
अंगुल-असंख-भागो संख-गुणो सो वि उवरुवरिं ॥१७४॥



अणुद्धरीयं कुंथो मच्छी काणा य सालिसित्थो य
पज्जत्ताण तसाणं जहण्ण-देहो विणिद्धिट्ठो ॥१७५॥



लोय-पमाणो जीवो देह-पमाणो वि अच्छदे खेत्ते
उग्गाहण -सत्तीदो संहरण-विसप्प-धम्मादो ॥१७६॥



सव्व-गओ जदि जीवो सव्वत्थ वि दुक्ख-सुक्ख-संपत्ती
जाइज्ज ण सा दिट्ठी णिय-तणु-माणो तदो जीवो ॥१७७॥



जीवो णाण-सहावो जह अग्गी उण्हवो सहावेण
अत्थंतर-भूदेण हि णाणेण ण सो हवे णाणी ॥१७८॥



जदि जीवादो भिण्णं सव्व-पयारेण हवदि तं णाणं
गुण -गुणि-भावो य तहा दूरेण पणस्सदे दुण्हं ॥१७९॥



जीवस्स वि णाणस्स वि गुणि-गुण -भावेण कीरए भेओ
जं जाणदि तं णाणं एवं भेओ कहं होदि ॥१८०॥



णाणं भूय-वियारं जो मण्णदि सो वि भूद-गहिदव्वो
जीवेण विणा णाणं किं केण वि दीसदे कत्थ ॥१८१॥



सच्चेयण-पच्चक्खं जो जीवं णेव मण्णदे मूढो
सो जीवं ण मुणंतो जीवाभावं कहं कुणदि ॥१८२॥



दि ण य हवेदि जीवो ता को वेदेदि सुख-दुखाणि
इंदिय-विसया सव्वे को वा जाणदि विसेसेण ॥१८३॥



संक प्प-मओ जीवो सुह-दुखमयं हवेइ संक प्पो
तं चिय वेददि जीवो देहे मिलिदो वि सव्वत्थ ॥१८४॥



देह -मिलिदो वि जीवो सव्व-कम्माणि कुव्वदे जम्हा
तम्हा पवट्ट माणो एयत्तं बुज्झदे दोण्हं ॥१८५॥



देह-मिलिदो वि पिच्छदि देह-मिलिदो वि णिसुण्णदे सद्दं
देह-मिलिदो वि भुंजदि देह -मिलिदो वि गच्छेदि ॥१८६॥



राओ हं भिच्चो हं सिट्ठी हं चेव दुब्बलो बलिओ
इदि एयत्ताविट्ठो दोण्हं भेयं ण बुज्झेदि ॥१८७॥



जीवो हवेइ कत्ता सव्वंकम्माणि कुव्वदे जम्हा
कालाइ-लद्धि-जुत्तो संसारं कु णइ मोक्खं च ॥१८८॥



जीवो वि हवइ भुत्ता कम्म-फलं सो वि भुंजदे जम्हा
कम्म-विवायं विविहं सो वि य भुंजेदि संसारे ॥१८९॥



जीवो वि हवे पावं अइ-तिव्व-कसाय-परिणदो णिच्चं
जीवो वि हवइ पुण्णं उवसम-भावेण संजुत्तो ॥१९०॥



रयणत्तय-संजुत्तारे जीवो वि हवेइ उत्तमं तित्थं
संसारं तरइ जदो रयणत्तय-दिव्व-णावाए ॥१९१॥



जीवा हवंति तिविहा बहिरप्पा तह य अंतरप्पा य
परमप्पा वि य दुविहा अरहंता तह य सिद्धा य ॥१९२॥



मिच्छत्त-परिणदप्पा तिव्व-कसाएण सुट्ठु आविट्ठो
जीवं देहं एक्कं मण्णंतो होदि बहिरप्पा ॥१९३॥



जे जिण-वयणे कुसला भेयं जाणंति जीव-देहाणं
णिज्जिय-दुट्ठु-मया अंतरप्पा य ते तिविहा ॥१९४॥



पंच-महव्वय-जुत्ता धम्मे सुक्के वि संठिदा णिच्चं
णिज्जिय-सयल-पमाया उक्किट्ठा अंतरा होंति ॥१९५॥



सावय-गुणेहिं जुत्ता पमत्त-विरदा य मज्झिमा होंति
जिण-वयणे अणुरत्ता उवसम-सीला महासत्ता ॥१९६॥



अविरय -सम्मादिट्ठी होंति जहण्णा विणिंद पय भत्ता
अप्पाणं णिंदंता गुण-गहणे सुट्ठुअणुरत्ता ॥१९७॥



ससीरा अरहंता केवल-णाणेण मुणिय-सयलत्था
णाण-सरीरा सिद्धा सव्वुत्तम-सुख -संपत्ता ॥१९८॥



णीसेस -कम्म-णासे अप्प-सहावेण जा समुप्पत्ती
कम्मज-भाव-खए वि य सा वि य पत्ती परा होदि ॥१९९॥



जइ पुण सुद्ध-सहावा सव्वे जीवा अणाइ-काले वि
तो तव-चरण-विहाणं सव्वेसिं णिप्फलं होदि ॥२००॥



ता कह गिण्हदि देहं णाणा-कम्माणि ता कहं कुणदि
सुहिदा वि यटुहिदा वि य णाणा-रूवा कहं होंति ॥२०१॥



सव्वे कम्म-णिबद्धा संसरमाणा अणाइ-कालमिहि
पच्छा तोडिय बंधं सिद्धा सुद्धा धुवं होंति ॥२०२॥



जोअण्णोण्ण-पवेसो जीव-पएसाण कम्म-खंधाणं
सव्व-बंधाण वि लओ सो बंधो होदि जीवस्स ॥२०३॥



उत्तम-गुणाण धामं सव्व-दव्वाण उत्तमं दव्वं
तच्चाण परम-तच्चं जीवं जाणेह णिच्छयदो ॥२०४॥



अंतर-तच्चं जीवो बाहिर-तच्चं हवंति सेसाणि
णाण-विहीणं दव्वं हियाहियं णेय जाणेदि ॥२०५॥



सव्वो लोयायासो पुग्गल-दव्वेहि सव्वदो भरिदो
सुहुमेहि बायरेहि य णाणा-विह-सत्ति-जुत्तेहिं ॥२०६॥



जं इंदिएहिं गिज्झं रूवं-रस -गंध-फास-परिणामं
तं चिय पुग्गल-दव्वं अणंत-गुणं जीव-रासीदो ॥२०७॥



जीवस्स बहु-पयारं उवयारं कुणदि पुग्गलं दव्वं
देहं च इंदियाणि य वाणी उस्सास-णिस्सासं ॥२०८॥



अण्णं पि एवमाई उवयारं कुणदि जाव संसारं
मोह-अणाण-मयं पि य परिणामं कुणदि जीवस्स ॥२०९॥



जीवा वि दु जीवाणं उवयारं कुणदि सव्व-पच्चक्खं
तत्थ वि पहाण-हेऊ पुण्णं पावं च णियमेणं ॥२१०॥



का वि अउव्वा दीसदि पुग्गल-दव्वस्स एरिसी सत्ती
केवल-णाण-सहावो विणासिदो जाइ जीवस्स ॥२११॥



धम्ममधम्मं दव्वं गमण-ट्ठाणाण कारणं कमसो
जीवाण पुग्गलाणं बिण्णि वि लोगप्पमाणाणि ॥२१२॥



सयलाणं दव्वाणं जं दादुं सक्कदे हि अवगासं
तं आयासं दुविहं लोयालोयाण भेएण ॥२१३॥



सव्वाणं दव्वाणं अवगाहण-सत्ति अत्थि परमत्थं
जह भसम-पाणियाणं जीव-पएसाण बहुयाणं ॥२१४॥



जदि ण हवदि सा सत्ती सहाव-भूदा हि सव्व-दव्वाणं
एक्केक्कास-पएसे कह ता सव्वाणि वट्ठंति ॥२१५॥



सव्वाणं दव्वाणं परिणामं जो करेदि सो कालो
एक्केक्कास-पएसे सो वट्ठदि एक्कको चेव ॥२१६॥



णिय-णिय-परिणामाणं णिय-णिय-दव्वं पि कारणं होदि
अण्णं बाहिर-दव्वं णिमित्त-मित्तं वियाणेह ॥२१७॥



सव्वाणं दव्वाणं जो उवयारो हवेइ अण्णोणं
सो चिय कारण-भावो हवदि हु सहयारि-भावेण ॥२१८॥



कालाइ-लद्धि-जुत्ता णाण-सत्तीहि संजुदा अत्था
परिणममाणा हि सयं ण सक्केदे को वि वारेदुं ॥२१९॥



जीवाण पुग्गलाणं जे सुहुमा बादरा य पज्जाया
तीदाणागद-भूदा सो ववहारो हवे कालो ॥२२०॥



तेसु अतीदा णंता अणंत-गुणिदा य भावि-पज्जाया
एक्को वि वट्टमाणे एत्तिय-मेत्तो वि सो कालो ॥२२१॥



पुव्व-परिणाम-जुत्तं कारण-भावेण वट्टदे दव्वं
उत्तर-परिणाम-जुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा ॥२२२॥



कारण-कज्ज-विसेसा तीसु वि कालेसु हुंति वत्थूणं
एक्केक्कम्मि य समए पुव्वुत्तर-भावमासिज्ज ॥२२३॥



संति अणंताणंता तीसु वि कालेसु सव्व-दव्वाणि
सव्वं पि अणेयंता तत्तो भणिदं जिणेंदेहिं ॥२२४॥



जं वत्थु अणेयंतं तं चिय कज्जं करेदि णियमेण
बहु-धम्म-जुदं अत्थं कज्ज-करं दीसदे लोए ॥२२५॥



एयंतं पुणु दव्वं कज्जं ण करेदि लेस-मेत्तं पि
जं पुणु ण करदि कज्जं तं वुच्चदि केरिसं दव्वं ॥२२६॥



परिणामेण विहीणं णिच्चं दव्वं विणस्सदे णेव
णो उप्पज्जेदि सया एवं कज्जं कहं कुणदि ॥२२७॥



पज्जय-मित्तं तच्चं विणस्सरं खणे खणे वि अण्णणं
अण्णइ -दव्व-विहीणं ण य क ज्जं किं पि साहि द ॥२२८॥



णव-णव-कज्ज-विसेसा तसु वि कालेसु होंति वत्थूणं
एक्केक्कम्मि य समये पुव्वुत्तर-भावमासिज्ज ॥२२९॥



पुव्व-परिणाम-जुत्तं कारण-भावेण वट्टदे दव्वं
उत्तर-परिणाम-जुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा ॥२३०॥



जीवो अणाइ -णिहणो परिणममाणो हु णव-णवं भावं
सामग्गीसु पवट्टदि क ज्जाणि समासदे पच्छा ॥२३१॥



स-सरूवत्थो जीवो कज्जं साहेदि वट्टमाणं पि
खेत्ते एक्कम्मि ठिदो णिय-दव्वे संठिदो चेव ॥२३२॥



स-सरूवत्थो जीवो अण्ण-सरूवम्मि गच्छदे जदि हि
अण्णेण्ण-मेलणादो एक्क -सरूवं हवे सव्वं ॥२३३॥



अहवा बंभ-सरूवं एक्कं सव्वं पि भण्णदे जदि हि
चंडाल-बंभणाणं तो ण विसेसो हवे को वि ॥२३४॥



अणु-परिमाणं तच्चं अंस-विहीणं च मण्णदे जदि हि
तो संबंध-अभावो तत्तो वि ण कज्ज-संसिद्धी ॥२३५॥



सव्वाणं दव्वाणं दव्व-सरू वेण होदि एयत्तं
णिय-णिय-गणु -भए णहि सव्वाणिवि होंति भिण्णाणि ॥२३६॥



जो अत्थो पडिसमयं उप्पाद-व्वय-धुवत्त-सब्भावो
गुण-पज्जय-परिणामो सो संतो भण्णदे समए ॥२३७॥



पडिसमयं परिणामो पुव्वो णस्सेदि जायदे अण्णो
वत्थु-विणासो पढमो उववादो भण्णदे बिदिरो ॥२३८॥



णो उप्पज्जदि जीवो दव्व-सरूवेण णेव णस्सेदि
तं चेव दव्व-मित्तं णिच्चत्तं जाण जीवस्स ॥२३९॥



अण्णइ-रूवं दव्वं विसेस-रूवो हवेइ पज्जावो
दव्वं पि विसेसेण हि उप्पज्जदि णस्सदे सददं ॥२४०॥



सरिसो जो परिणामो अणाइ-णिहणो हवे गुणो सो हि
सो सामण्ण-सरू वो उप्पज्जदि णस्सदे णेय ॥२४१॥



सो वि विणस्सदि जायदि विसेस-रूवेण सव्व-दव्वेसु
दव्व-गुण-पज्जयाणं एयत्तं वत्थु परमत्थं ॥२४२॥



जदि दव्वे पज्जाया वि विज्जमाणा तिरोहिदा संति
ता उप्पत्ती विहला पडिपिहिद देवदत्ते व्व ॥२४३॥



सव्वाणं पज्जयाणं अविज्जमाणाण होदि उप्पत्ती
कालाई-लद्धीए अणाइ-णिहणम्मि दव्वम्मि ॥२४४॥



दव्वाण पज्जयाणं धम्म-विवक्खाए कीरए भेओ
वत्थु-सरूवेण पुणो ण हि भेदो सक्कदे काउं ॥२४५॥



जदि वत्थुदो विभेदो पज्जय-दव्वाण मण्णसे मूढ
तो णिरवेक्खा सिद्धी दोण्हं पि य पावदे णियमा ॥२४६॥



जदि सव्वमेव णाणं णाणा-रूवेहि संठिदं एक्कं
तोण ण वि किं पि विणेयं णेयेण विणा कहं णाणं ॥२४७॥



घड-पड-जड-दव्वाणि हि णेय-सरूवाणि सुप्पसिद्धाणि
णाणं जाणेदि जदो अप्पादो भिण्ण-रूवाणि ॥२४८॥



जं सव्व-लोय-सिद्धं देहं गेहादि-बाहिरं अत्थं
जो तं पि णाण मण्णदि ण मणु दि सो णाण-णामं पि ॥२४९॥



अच्छीहि पिच्छमाणो जीवाजीवादि -बहु-विहं अत्थं
जो भणदि णत्थि किंचि वि सो झुट्ठाणं महा-झुट्ठो ॥२५०॥



जं सव्वं पि य संतं ता सो वि असंतओ कहं होदि
णत्थि त्ति किंचि तत्तो अहवा सुण्णं कहं मुणदि ॥२५१॥



जदि सव्वं पि असंतं ता सो वि य संतओ कहं भणदि
णत्थि त्ति किं पि तच्चं अहवा सुण्णं कहं मुणदि ॥२५१॥



किं बहुणा उत्तेण य जेत्तिय -मेत्ताणि संति णामाणि
तेत्तिय-मेत्ता अत्था संति य णियमेण परमत्था ॥२५२॥



णाणा-धम्मेहि जुदं अप्पाणं तह परं पि णिच्छयदो
जं जाणेदि सजोगं तं णाणं भण्णदे समए ॥२५३॥



जं सव्वं पि पयसदि दव्वं -पज्जाय-संजुदं लोयं
तह य अलोयं सव्वं तं णाणं सव्व-पच्चक्खं ॥२५४॥



सव्वं जाणदि जम्हा सव्व-गयं तं पि वुच्चदे तम्हा
ण य पुण विसरदि णाणं जीवं चइऊण अण्णत्थ ॥२५५॥



णाणं ण जादि णेयं णेयं पि ण जादि णाण-देसम्मि
णिय-णिय-देस-ठियाणं ववहारो णाण-णेयाणं ॥२५६॥



मण-पज्जय-विण्णाणं आही-णाणं च दसे -पच्चक्खं
मदि-सि द -णाणं क मसो विसद -पराक्खे खं पराक्खे खंच ॥
२५७॥



इंदियजं मदि-णाणं जोग्गं जाणेदि पुग्गलं दव्वं
माणस-णाणं च पुणो सुय-विसयं अक्ख-विसयं च ॥२५८॥



पंचिंदिय -णाणाणं मज्झे एगं च होदि उवजुत्तं
मण-णाणे उवजुत्तो इंदिय-णाणं ण जाणेदि ॥२५९॥



एक्के काले एक्कं णाणं जीवस्स होदि उवजुत्तं
णाणा-णाणाणि पुणो लद्धि-सहावेण वुच्चंति ॥२६०॥



जं वत्थु अणेयंतं एयंतं तं पि होदि सविपेक्खं
सुय-णाणेण णएहि य णिरवेक्खं दीसदे णेव ॥२६१॥



सव्वं पि अणेयंतं परोक्ख-रूवेण जं पयासेदि
तं सुय-णाणं भण्णदि संसय-पहुदीहि परिचत्तं ॥२६२॥



लोयाणं ववहारं धम्म-विवक्खाइं जो पसाहेदि
सुय-णाणस्स वियप्पो सो वि णओ लिंग-संभूदो ॥२६३॥



णाणा-धम्म-जुदं पि य एयं धम्मं पि वुच्चदे अत्थं
तस्सेय -विवक्खादो णत्थि विवक्खा हु सेसाणं ॥२६४॥



सो चिय एक्को धम्मो वाचय-सद्दो वि तस्स धम्मस्स
जं जाणदि तं णाणं ते तिण्णि वि णय-विसेसा य ॥२६५॥



ते सावेक्खा सुणया णिरवेक्खा ते वि दुण्णया होंति
सयल-ववहार -सिद्धी सु-णयादो होदि णियमेण ॥२६६॥



जं जाणिज्जइ जीवो इंदिय-वावार-काय-चिट्ठाहिं
तं अणुमाणं भण्णदि तं पि णयं बहु-विहं जाण ॥२६७॥



सो संगहेण एक्को दु-विहो वि य दव्व-पज्जएहिंतो
तेसिं च विसेसादो णइगम -पहुदी हवे णाणं ॥२६८॥



जो साहेदि सामण्णं अविणा-भूदं विसेस-रूवेहिं
णाणा-जुत्ति-बलादो दव्वत्थो सो णओ होदि ॥२६९॥



जो साहेदि विसेसे बहु-विह-सामण्ण-संजुदे सव्वे
साहण-लिंग-वसादो पज्जय- विसओ णओ होदि ॥२७०॥



जो साहेदि अदीदं वियप्प-रूवं भविस्समट्ठं च
संपडि-कालाविट्ठं सो हु णओ णेगमो णेओ ॥२७१॥



जो संगहेदि सव्वं देसं वा विविह-दव्व-पज्जायं
अणुगम-लिंग-विसिट्ठं सो वि णओ संगहो होदि ॥२७२॥



जं संगहेण गहिदं विसेस-रहिदं पि भेददे सददं
परमाणू पज्जंतं ववहार-णओ हवे सो हु ॥२७३॥



जो वट्टमाण-काले अत्य-पज्जाय-परिणदं अत्यं
संतं साहदि सव्वं तं पि णयं उज्जुयं जाण ॥२७४॥



सव्वेसिं वत्थूणं संखा-लिंगादि-बहु-पयारेहिं
जो साहदि णाणत्तं सद्व-णयं तं वियाणेह ॥२७५॥



जो एगेगं अत्यं परिणदि-भेदेण साहदे णाणं
मुक्खत्थं वा भासदि अहिरूढं तं णयं जाण ॥२७६॥



जेण सहावेण जदा परिणद -रूवम्मि तम्मयत्तादो
तं परिणामं साहदि जो वि णओ सो हु परमत्थो ॥२७७॥



एवं विविह-णएहिं जो वत्थुं ववहरेदि लोयम्मि
दंसण-णाण-चरित्तं सो साहदि सग्ग मोक्खं च ॥२७८॥



विरला णिसुणहि तच्चं विरला जाणंति तच्चदो तच्चं
विरला भावहि तच्चं विरलाणं धारणा होदि ॥२७९॥



तच्चं कहिज्जमाणं णिच्चल-भावेण गिण्हदे जो हि
तं चिय भावेदि सया सो वि य तच्चं वियाणेइ ॥२८०॥



को ण वसो इत्थि-जणे कस्स ण मयणेण खंडियं माणं
को इंदिएहिं ण जिओ को ण कसाएहि संतत्तो ॥२८१॥



सो ण वसो इत्थि-जणे सो ण जिओ इंदिएहि मोहेण
जो ण य गिण्हदि गंथं अब्भंतर -बाहिरं सव्वं ॥२८२॥



बोधितुर्लभ अनुप्रेक्षा



एवं लोय-सहावं जो झायदि उवसमेक्क -सब्भावो
सो खविय कम्म-पुंजं तिल्लोय -सिहामणी होदि ॥२८३॥



जीवो अणंत-कालं वसइ णिगोएसु आइ-परिहीणो
तत्तो णिस्सरिट्ठणं पुढवी-कायादिओ होदि ॥२८४॥



तत्थ वि असंख-कालं बायर-सुहुमेसु कुणइ परियत्तं
चिंतामणि व्व दुलहं तसत्तणं लहदि कट्ठेण ॥२८५॥



वियलिंदिएसु जायदि तत्थवि अच्छेदि पुव्व-कोडीओ
तत्तो णिस्सरिट्ठणं कहमवि पंचिंदिओ होदि ॥२८६॥



सो वि मणेण विहीणो ण य अप्पाणं परं पि जाणेदि
अह मण-सहिदो होदि हु तह वि तिरिक्खो हवे रुद्धो ॥२८७॥



सो तिक्ख-असुह लेसो णरये णिवडेइ दुक्खदे भीमे
तत्थ वि दुक्खं भुंजदि सारीरं माणसं पउरं ॥२८८॥



तत्तो णिस्सरिट्ठणं पुणरवि तिरिएसु जायदे पावो
तत्थ वि दुक्खमणंतं विसहदि जीणो अणेयविहं ॥२८९॥



रयणं चलप्पहे पिव मणुयत्तं सुट्ठु दुल्लहं लहिय
मिच्छो हवेइ जीवो तत्थ वि पावं समज्जेदि ॥२९०॥



अह लहदि अज्जवत्तं तह ण वि पावेइ उत्तमं गोत्तं
उत्तम-कुले वि पत्ते धण-हीणो जायदे जीवो ॥२९१॥



अह धण-सहिदो होदि हु इंदिय-परिपुण्णदा तदो दुलहा
अह इंदिय-संपुण्णे तह वि सरोओ हवे देहो ॥२९२॥



अह णीरोओ होदि हु तह वि ण पावेदि जीवियं सुइरं
अह चिर-कालं जीवदि तो सीलं णेव पावेदि ॥२९३॥



अह होदि सील-जुत्तो तो वि ण पावेइ साहु-संसग्गं
अह तं पि कह वि पावदि सम्मत्तं तह वि अइदुलहं ॥२९४॥



सम्मत्ते वि य लद्धे चारित्तं णेय गिण्हदे जीवो
अह कह वि तं पि गिण्हदि तो पालेदुं ण सक्केदि ॥२९५॥



रयणत्तये वि लद्धे तिब्ब-कसायं करेदि जइ जीवो
तो दुग्गईसु गच्छदि पणट्ठ-रयणत्तओ होउं ॥२९६॥



रयणु व्व जलहि-पडियं मणुयत्तं तं पि होदि अइदुलहं
एवं सुणिच्छइत्ता मिच्छ-कसाए य वज्जेह ॥२९७॥



अहवा देवो होदि हु तत्थ वि पावेदि कह व सम्मत्तं
तो तव-चरणं ण लहदि देस-जमं सील-लेसं पि ॥२९८॥



मणुव-गईए वि तओ मणुव-गईए महव्वदं सयलं
मणुव-गदीए झाणं मणुव-गदीए वि णिव्वाणं ॥२९९॥



इय दुलहं मणुयत्तं लहिऊणं जे रमंति विसएसु
ते लहियं दिव्व-रयणं भूइ -णिमित्तं पजालंति ॥३००॥



धर्म अनुप्रेक्षा



इय सव्व-दुलह-दुलहं दंसण-णाणं तहा चरित्तं च
मुणिऊण य संसारे महायरं कुणह तिण्हं पि ॥३०१॥



जो जाणदि पच्चक्खं तियाल-गुण-पज्जाएहिं संजुत्तं
लोयालोयं सयलं सो सव्वण्हू हवे देवो ॥३०२॥



जदिण हवदि सव्वण्हू ता को जाणदि अदिंदियं अत्थं
इंदिय-णाणं ण मुणदि थूलं पि असेस-पज्जायं ॥३०३॥



तेणुवइट्टो धम्मो संगसत्ताण तह असंगाणं
पढमो बारह-भेओ दह-भेओ भासिओ बिदिओ ॥३०४॥



सम्मदंसण-सुद्धो रहिओ मज्जाइ-थूल-दोसेहिं
वय-धारी सामाइउ पव्व-वई पासुयाहारी ॥३०५॥



राई-भोयण विरओ मेहुण-सारंभ-संग-चत्तो य
क ज्जाणुमोय-विरओ उद्दिट्ठाहार-विरदो य ॥३०६॥



चटु-गदि -भव्वो सण्णी सुविसुद्धो जग्गमाण-पज्जत्तो
संसार-तडे णियडो णाणी पावेइ सम्मत्तं ॥३०७॥



सत्तण्हं पयडीणं उवसमदो होदि उवसमं सम्मं
खयदो य होदि खइयं केवलि-मूले मणूसस्स ॥३०८॥



अणउदयादो छण्हं सजाइ-रूवेण उदयमाणाणं
सम्मत्त-कम्म-उदये खयउवसमियं हवे सम्मं ॥३०९॥



गिण्हदि मुंचदि जीवो वे सम्मत्ते असंख-वाराओ
पढम-कसाय-विणासं देस-वयं कुणदि उक्कस्सं ॥३१०॥



जो तच्चमणेयंतं णियमा सद्वहदि सत्त-भंगेहिं
लोयाण पण्ह-वसदो ववहार-पवत्तणट्ठं च ॥३११॥



जो आयरेण मण्णदि जीवाजीवादि णव-विहं अत्थं
सुद -णाणेण णएहि य सो सद्विट्ठी हवे सुद्धो ॥३१२॥



जो ण य कुव्वदि गव्वं पुत्त-कलत्ताइ-सव्व-अत्थेसु
उवसम-भावे भावदि अप्पाणं मुणदि तिणमित्तं ॥३१३॥



विसयासत्तो वि सया सव्वारंभेसु वट्टमाणो वि
मोह-विलासो एसो इदिसव्वं मण्णदे हेयं ॥३१४॥



उत्तम-गुण-गहण-रओ उत्तम-साहूण विणय-संजुत्तो
साहम्मिय -अणुराई सो सद्विट्ठी हवे परमो ॥३१५॥



देह-मिलयं पि जीवं णिय-णाण-गुणेण मुणदि जो भिण्णं
जीव-मिलियं पि देहं कंचुव -सरिसं वियाणेइ ॥३१६॥



णिज्जिय-दोसं देवं सव्व- जिवाणं दयावरं धम्मं
वज्जिय-गंथं च गुरुं जो मण्णदि सो हु सद्विट्ठी ॥३१७॥



दोस-सहियं पि देवं जीव-हिंसाइ -संजुदं धम्मं
गंथासत्तं च गुरुं जो भण्णदि सो हु कुद्धिट्ठी ॥३१८॥



ण य को वि देदि लच्छी ण को वि जीवस्स कुणदि उवयारं
उवयारं अवयारं क म्मं पि सुहासुहं कु णदि ॥३१९॥



भत्तीए पुज्जमाणो वितर-देवो वि देदि जदि लच्छी
तो किं धम्मं कीरदि एवं चिंतेइ सद्धिट्ठी ॥३२०॥



जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा ॥३२१॥



तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि
को सक्कदि वारेदुं इंदो वा तह जिणिंदो वा ॥३२२॥



एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्व-पज्जाए
सो सद्धिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुद्धिट्ठी ॥३२३॥



जो ण विजाणदि तच्चं सो जिण-वयणे करेदि सद्दहणं
जं जिणवरेहिं भणियं तं सव्वमहं समिच्छामि ॥३२४॥



रयणाण महा-रयणं सव्वं-जोयाण उत्तमं जोयं
रिद्धीण महा-रिद्धी सम्मत्तं सव्व-सिद्धियरं ॥३२५॥



सम्मत्त-गुण-पहाणो देविंद-णरिंद-बंदिओ होदि
चत्त-वओ वि य पावदि सग्ग-सुहं उत्तमं विविहं ॥३२६॥



सम्माइट्ठी जीवो दुग्गदि-हेटुं ण बंधदे कम्मं
जं बहु-भवेसु बद्धं दुक्कम्मं तं पि णासेदि ॥३२७॥



बहु-तस-समण्णिदं जं मज्जं मंसादि णिंदिदं दव्वं
जो ण य सेवदि णियदं सो दंसण-सावओ होदि ॥३२८॥



जो दिढ-चित्तो कीरदि एवं पि वयं णियाण-परिहीणो
वेरग्ग-भाविय-मणो सो वि य दंसण-गुणो होदि ॥३२९॥



पंचाणुव्वय-धारी गुण-वय-सिक्खा-वएहिं सुजुत्तो
दिढ-चित्तो सम-जुत्तो णाणी वय-सावओ होदि ॥३३०॥



जो वावरेइ सदओ अप्पाण-समं परं पि मण्णंतो
णिंदण-गरहण-जुत्तो परिहरमाणो महारंभे ॥३३१॥



तस-घादं जो ण करदि मण-वय-काएहि णेव कारयदि
कुव्वंतं पि ण इच्छदि पढम-वयं जायदे तस्स ॥३३२॥



हिंसा-वयणं ण वयदि कक्कस-वयणं पि जो ण भासेदि
णिट्ठुर-वयणं पि तहा ण भासदे गुज्झ-वयणं पि ॥३३३॥



हिद-मिद-वयणं भासदि संतोस-करं तु सव्व-जीवाणं
धम्म-पयासण-वयणं अणुव्वदी होदि सो बिदिओ ॥३३४॥



जो बहु-मुल्लं वत्थुं अप्पय-मुल्लेण णेव गिण्हेदि
वीसरियं पि ण गिण्हदि लाहे थोवे वि तूसेदि ॥३३५॥



जो पर-दव्वं ण हरदि माया-लोहेण कोह-माणेण
दिढ-चित्तो सुद्ध-मई अणुव्वई सो हवे तिदिओ ॥३३६॥



असुइ-मयं दुग्गंधं महिला-देहं विरच्चमाणो जो
रूवं लावणं पि य मण-मोहण-कारणं मुणइ ॥३३७॥



जो मण्णादि पर-महिलं जणणी-बहिणी-सुआइ-सारिच्छं
मण-वयणे काएण वि बंभ-वई सो हवे थूलो ॥३३८॥



जो लोहं णिहणित्ता संतोस-रसायणेण संतुट्ठो
णिहणदि तिण्हा दुट्ठा मण्णंतो विणस्सरं सव्वं ॥३३९॥



जो परिमाणं कुव्वदि धण-धण्णं -सुवण्ण-खित्तमाईणं
उवओगं जाणित्ता अणुव्वदं पंचमं तस्स ॥३४०॥



जह लोह-णासणट्ठं संग-पमाणं हवेइ जीवस्स
सव्व-दिसाण पमाणं तह लोहं णासए णियमा ॥३४१॥



जं परिमाणं कीरदि दिसाण सव्वाण सुप्पसिद्धाणं
उवओगं जाणित्ता गुणव्वदं जाण तं पढमं ॥३४२॥



कज्जं किं पि ण साहदि णिच्चं पावं करेदि जो अत्थो
सो खलु हवदि अणत्थो पंच-पयारो वि सो विविहो ॥३४३॥



पर-दोसाण वि गहणं पर-लच्छीणं समीहणं जं च
परइत्थी-अवलोओ पर-क लहालोयणं पढमं ॥३४४॥



जो उवएसो दिज्जदि किसि-पसु-पालण-वणिज्ज-पमुहेसु
पुरसित्थी -संजोए अणत्थ-दंडो हवे विदिओ ॥३४५॥



विहलो जो वावारो पुढवी-तोयाण अग्नि-वाऊणं
तह वि वणप्फदि-छेदो अणत्थ-दंडो हवे तिदिओ ॥३४६॥



मज्जार-पहुदि-धरणं आउह -लोहादि-विक्कणं जं च
लक्खा -खलादि-गहणं अणत्थ-दंडो हवे तुरिओ ॥३४७॥



जं सवणं सत्थाणं भंडण-वसियरण-काम-सत्थाणं
पर-दोसाणं च तहा अणत्थ-दंडो हवे चरिमो ॥३४८॥



एवं पंच-पयारं अणत्थ-दंडं दुहावहं णिच्चं
जो परिहरेदि णाणी गुणव्वदी सो हवे बिदिओ ॥३४९॥



जाणित्ता संपत्ती भोयण-तंबोल-वत्थमादीणं
जं परिमाणं कीरदि भोउ बभोयं वयं तस्स ॥३५०॥



जो परिहरेइ संतं तस्स वयं थुव्वदे सुरिंदो वि
जो मण-लड्डु व भक्खदि तस्स वयं अप्प-सिद्धियरं ॥३५१॥



सामाइयस्स करणे खेत्तं कालं च आसणं विलओ
मण-वयण-काय-सुद्धी णायव्वा हुंति सत्तेव ॥३५२॥



जत्थ ण कलयल-सद्धो बहु-जण-संघट्टणं ण जत्थत्थि
जत्थ ण दंसादीया एस पसत्थो हवे देसो ॥३५३॥



पुव्वण्हे मज्झण्हे अवरण्हे तिहि वि णालिया छक्को
सामाइयस्स कालो सविणय-णिस्सेस-णिद्धिट्ठो ॥३५४॥



बंधित्ता पज्जंकं अहवा उहेण उब्भओ ठिच्चा
काल-पमाणं किच्चा इंदिय-वावार-वज्जिदो होउं ॥३५५॥



जिण-वयणेयग्ग-मणो संवुड -काओ य अंजलिं किच्चा
स-सरू वे संलीणो वंदण-अत्थं विंचितंतो ॥३५६॥



किच्चा-देस-पमाणं सव्वं-सावज्ज-वज्जिदो होउं
जो कुव्वदि सामइयं सो मुणि-सरिसो हवे ताव ॥३५७॥



ण्हाण-विलेवण-भूसण-इत्थी-संसग्ग-गंध-धूवादी
जो परिहरेदि णाणी वेरग्गाभूसणं कि च्चा ॥३५८॥



दोसु वि पव्वेसु सया उववासं एय-भत्त-णिव्वियडी
जो कुणदि एवमाई तस्स वयं पोसहं बिदियं ॥३५९॥



तिविहे पत्तम्हि सया सद्धाइ -गुणेहि संजुदो णाणी
दाणं जो देदि सयं णव-दाण-विहीहि संजुत्तो ॥३६०॥



सिक्खा-वयं च तिदियं तस्स हवे सव्व-सिद्धि-सोक्खयरं
दाणं चउव्विहं पि य सव्वे दाणाण सारयरं ॥३६१॥



भोयण-दाणं सोक्खं ओसह-दाणेणं सत्थ-दाणेणं
जीवाण अभय-दाणं सुदुल्लहं सव्व-दाणेसु ॥३६२॥



भोयण-दाणे दिण्णे तिण्णि वि दाणाणि होंति दिण्णाणि
भुक्ख-तिसाए वाही दिणे दिणे होंति देहीणं ॥३६३॥



भोयण-बलेण साहू सत्थं सेवेदि रत्ति-दिवसं पि
भोयण-दाणे दिण्णे पाणा वि य रक्खिया होंति ॥३६४॥



इह-पर-लोय-णिरीहो दाणं जो देदि परम-भत्तीए
अयणत्तए सुठविदो संघो सयलो हवे तेण ॥३६५॥



उत्तम-पत्त-विसेसे उत्तम-भत्तीए उत्तमं दाणं
एय-दिणे वि य दिण्णं इंद-सुहं उत्तमं देदि ॥३६६॥



पुव्व-पमाण-कदाणं सव्व-दिसीणं पुणो वि संवरणं
इंदिय-विसयाण तहा पुणो वि जो कुणदि संवरणं ॥३६७॥



वासादि-कय-पमाणं दिणे दिणे लोह-काम-समणट्ठं
सावज्ज-वज्जणट्ठं तस्स चउत्थं वयं होदि ॥३६८॥



बारस-वएहिं जुत्तो सल्लिहणं जो कुणेदि उवसंतो
सो सुर-सोक्खं पाविय कमेण सोक्खं परं लहदि ॥३६९॥



एक्कं पि वयं विमलं सद्धिटी जइ कुणेदि दिढ-चित्तो
तो विविह-रिद्धि-जुत्तं इंदत्तं पावए णियमा ॥३७०॥



जो कुणदि काउसगं बारस-आवत्त -संजदो धीरो
णमण-दुगं पि कुणंतो चट्ठ-प्पणामो पसण्णप्पा ॥३७१॥



चिंतंतो ससरूवं जिण-बिंबं अहव अक्खरं परमं
झायदि कम्म-विवायं तस्सवयं होदि सामइयं ॥३७२॥



सत्तमि -तेरसि-दिवसे अवरणहे जाइऊण जिण-भवणे
किच्चा किरिया-कम्मं उववासं चउ-विहं गहिय ॥३७३॥



गिह-वावारं चत्ता रत्तिं गमिऊण धम्म-चिंताए
पच्चूसे उट्ठिता कि रिया-क म्मं च काटूण ॥३७४॥



सत्थब्भासेण पुणे दिवसं गमिऊण वंदणं किच्चा
रत्तिं णेट्ठण तहा पच्चूसे वंदणं कि च्चा ॥३७५॥



पुज्जण -विहिं च किच्चा पत्तं गहिऊण णवरि ति-विहं पि
भुंजा विऊ ण पत्तं भुंजंतो पोसहो होदि ॥३७६॥



एक्कं पि णिरारंभं उववासं जो करेदि उवसंतो
बहु-भव-संचिय-कम्मं सो णाणी खवदि लीलाए ॥३७७॥



उववासं कुव्वंतो आरंभं जो करेदि मोहादो
सो णिय-देहं सोसदि ण झाडए कम्म-लेसं पि ॥३७८॥



सच्चित्तं पत्त -फलं छल्ली मूलं च किसलयं वीयं
जो ण य भक्खदि णाणी सचित्त-विरदो हवे सो दु ॥३७९॥



जो ण य भक्खेदि सयं तस्स ण अण्णस्स जुज्जदे दाउं
भुत्तस्स भोजिदस्स हि णत्थि विसेसो जदो को वि ॥३८०॥



जो वज्जेदि सचित्तं दुज्जय-जीहा विणिज्जिया तेण
दय-भावो होदि किओ जिण-वयणं पालियं तेण ॥३८१॥



जो चउ-विहं पि भोज्जं रयणीए णेव भुंजदे णाणी
ण य भजुंावदि अण्णं णिसि-विरओ सो हवे भाज्जेो ॥३८२॥



जो णिसि-भुत्तिं वज्जदिसो उववासं करेदि छम्मासं
संवच्छरस्स मज्झे आरंभं चयदि रयणीए ॥३८३॥



सव्वेसिं इत्थीणं जो अहिलासं ण कुव्वदे णाणी
मण-वाया- कायेण य बंभ-वई सो हवे सदओ ॥३८४॥



जो क य-कारिय-माये ण -मण-वय-काएण महे णुं चयदि
बंभ-पवज्जारूढो बंभ-वई सो हवे सदओ ॥३८४॥



जो आरंभं ण कुणदि अण्णं कारयदि णेव अणुमण्णे
हिंसा-संतट्ठ-मणो चत्तारंभो हवे सो हु ॥३८५॥



जो परिवज्जइ गंथं अब्भंतर-बाहिरं च साणंदो
पावं ति मण्णमाणो णिगंथो सो हवे णाणी ॥३८६॥



बाहिर-गंथ-विहीणा दरिद्र-मणुवा सहावदो होंति
अभंतर-गंथं पुण ण सक्कदे को वि छंडेदुं ॥३८७॥



जो अणुमणणं ण कुणदि गिहत्य-कज्जेसु पाव-मूलेसु
भवियव्वं भावंतो अणुमण-विरओ हवे सो दु ॥३८८॥



जो पुण चिंतदि कज्जं सुहासुहं राय-दोस-संजुत्तो
उवओगेण विहीणं स कुणदि पावं विणा कज्जं ॥३८९॥



जो णव-कोडि-विसुद्धं भिक्खायरणो भुंजदे भोज्जं
जायण-रहियं जोग्गं उद्दिट्ठाहार-विरदो सो ॥३९०॥



जो सावय-वय-सुद्धो अंते आराहणं परं कुणदि
सो अच्चुदम्हि सग्गे इंदो सुर-सेविदो होदि ॥३९१॥



जो रयणत्तय-जुत्तो खमादि- भावेहि परिणदो णिच्चं
सव्वत्थ वि मज्झत्थो सो साहू भण्णदे धम्मो ॥३९२॥



सो चेव दह-पयारो खमादि-भावेहि सुप्पसिद्धे हिं
ते पुणु भणिज्जमाणा मुणियव्वा परम-भत्तीए ॥३९३॥



कोहेण जो ण तप्पदि सुर-णर-तिरिएहिं कीरमाणो वि
उवसग्गे वि रउद्दे तस्स खमा णिम्मला होदि ॥३९४॥



उत्तम-णाण-पहाणो उत्तम-तवयरण-करण-सीलो वि
अप्पाणं जो हीलदि मद्दव-रयणं भवे तस्स ॥३९५॥



जो चिंतेइ ण वंकं ण कुणदि वंकं ण जंपदे वंकं
ण य गोवदि णिय-दोसं अज्जव-धम्मो हवे तस्स ॥३९६॥



सम-संतोस-जलेणं जो धोवदि तिब्ब -लोह-मल-पुंजं
भोयण-गिद्धि-विहीणो तस्स सउच्चं हवे विमलं ॥३९७॥



जिण-वयणमेव भासदि तं पालेदुं असक्कमाणो वि
ववहारेण वि अलियं ण वददि जो सच्च-वाई सो ॥३९८॥



जो जीव-रक्खण परो गमणागमणादि -सव्व-कज्जेसु
तण-छेदं पि ण इच्छदि संजम-धम्मो हवे तस्स ॥३९९॥



इह-पर-लोय-सुहाणं णिरवेक्खो जो करेदि सम-भावो
विविहं काय-किलेसं तव-धम्मो णिम्मलो तस्स ॥४००॥



जो चयदि मिट्ठु-भोज्जं उवयरणं रय-दोस-संजणयं
वसदिं ममत्त-हेटुं चाय-गुणो सो हवे तस्स ॥४०१॥



ति-विहेण जो विवज्जदि चेयणमियरं च सव्वहा संगं
लोय-ववहार -विरदो णिग्गंथत्तं हवे तस्स ॥४०२॥



जो परिहरेदि संगं महिलाणं णेव पस्सदे रूवं
काम-कहादि- णिरीहो णव-विह-बंभं हवे तस्स ॥४०३॥



जो ण वि जादि वियारं तरुणियण-कडक्ख- बाण-विद्धो वि
सो चेव सूर-सूरो रण-सूरो णो हवे सूरो ॥४०४॥



एसो दह-प्पयारो धम्मो दह-लक्खणो हवे णियमा
अण्णो ण हवदि धम्मो हिंसा सुहुमा वि जत्थत्थि ॥४०५॥



हिंसारंभो ण सुहो देव-णिमित्तं गुरूण कज्जेसु
हिंसा पावं ति मदो दया-पहाणे जदो धम्मो ॥४०६॥



देव-गुरूण णिमित्तं हिंसा-सहिदो वि होदि जदि धम्मो
हिंसा-रहिदो धम्मो इदि जिण-वयणं हवे अलियं ॥४०७॥



इदि एसो जिण-धम्मो अलद्ध-पुव्वो अणाइ -काले वि
मिच्छ त-संजुदाणं जीवाणंलद्धि-हीणाणं ॥४०८॥



एदे दह-प्पयारा पावं-कम्मस्स णासया भणिया
पुण्णस्स य संजणया पर पुण्णत्थं ण कायव्वा ॥४०९॥



पुण्णं पि जो समिच्छदि संसारो तेण ईहिदो होदि
पुण्णं सुगई -हेटुं पुण्ण-खएणेव णिव्वाणं ॥४१०॥



जो अहिलसेदि पुण्णं सकसाओ विसय-सोक्ख -तण्हाए
दूरे तस्स विसोही विसोहि-मूलाणि पुण्णाणि ॥४११॥



पुण्णासाए ण पुणं जदो णिरीहस्स पुण्ण-संपत्ती
इय जाणिऊण जइणो पुणो वि म आयरं कुणह ॥४१२॥



पुण्णं बंधदि जीवो मंद-कसाएहिं परिणदो संतो
तम्हा मंद-कसाया हेऊ पुण्णस्स ण हि वंछा ॥४१३॥



किं जीव-दया धम्मो जण्णे हिंसा वि होदि किं धम्मो
इच्चेवमादि-संका-तदक रणं जाण णिस्संका ॥४१४॥



दय-भावो वि य धम्मो हिंसा-भावो ण भण्णदे धम्मो
इदि संदेहाभावो णिस्संका णिम्मला होदि ॥४१५॥



जो सग्ग-सुह-णिमित्तं धम्मं णायरदि दूसह-तवेहिं
मोक्खं समीहमाणो णिक्खंखा जायदे तस्स ॥४१६॥



दह-विह-धम्म-जुदाणं सहाव-दुग्गंध-असुइ-देहेसु
जं णिंदणं ण कीरदि णिव्विदिगिंछा गुणो सो हु ॥४१७॥



भय-उज्जा-लाहादो हिंसारंभो ण मण्णदे धम्मो
जो जिण-वयणेलीणो अमूढ-दिट्ठी हवे सो दु ॥४१८॥



जो पर-दोसं गोवदि णिय-सुकयं जो ण पयडदे लोए
भवियव्वं -भावण-रओ उवगूहण-कारओ सो हु ॥४१९॥



धम्मादो चलमाणं जो अण्णं संठवेदि धम्मम्मि
अप्पाणं पि सुदिढयदि ठिदि-करणं होदि तस्सेव ॥४२०॥



जो धम्मिएसु भत्तो अणुचरणं कुणदि परम-सद्धाए
पिय-वयणं जंपंतो वच्छल्लं तस्स भव्वस्स ॥४२१॥



जो दस-भेयं धम्मं भव्व-जणाणं पयासदे विमलं
अप्पाणं पि पयासदि णाणेण पहावणा तस्स ॥४२२॥



जिण-सासण-माहप्पं बहु-विह-जुत्तीहि जो पयासेदि
तह तिब्बेण तवेण य पहावणा णिम्मला तस्स ॥४२३॥



+ धर्म-ग्रहण का माहात्म्य दष्टान्त-पूर्वक -

जह जीवो कुणइ रइं, पुत्तकलत्तेसुकामभोगेसु ।
तह जह जिणिंदधम्मे, तो लीलाए सुहं लहदि ॥४२६॥

अन्वयार्थ : [जह जीवो पुत्तकलत्तेसुकामभोगेसु रइं कुणइ] जैसे यह जीव पुत्र-कलत्र में तथा काम-भोग में रति (प्रीति) करता है [तह जइ जिणिंदधम्मे तो लीलाए सुहं लहदि] वैसे ही यदि जिनेन्द्र के वीतराग धर्म में करे तो लीलामात्र (शीघ्रकाल) में ही सुख को प्राप्त हो जाय ।



+ लक्ष्मी का चाहना धर्म-बिना निष्फल -

लच्छिं वंछेइ णरो, णोव सुधम्मेसु आयरं कुणइ ।
बीएण विणा कथ वि, किं दीसदि सस्सणिप्पत्ती ॥४२७॥

अन्वयार्थ : [णरो लच्छिं वंछेइ] यह जीव लक्ष्मी को तो चाहता है [सुधम्मेसु आयरं णोव कुणइ] और जिनभाषित धर्म में आदर (प्रीति) नहीं करता, [बीएण विणा सस्सणिप्पत्ती कथ वि किं दीसदि] बीज के बिना धान्य की उत्पत्ति क्या कहीं दिखाई देती है ?



+ धर्मात्मा जीव की प्रवृत्ति -

जो धम्मत्थो जीवो, सो रिउवग्गे वि कुणदि खमभावं ।
ता परदव्वं वज्जह, जणणिसमं गणइ परदारं ॥४२८॥

अन्वयार्थ : [जो जीवो धम्मत्थो] जो जीव धर्म में स्थित है [सो रिउवग्गे वि खमभावे कुणदि] वह शत्रुओं के समूह पर भी क्षमा-भाव करता है [ता परदव्वं वज्जइ] दूसरे के द्रव्य को त्यागता है, [परदारं जणणिसमं गणइ] पर-स्त्री को माता के समान समझता है ।



ता सव्वत्थ वि कित्ती, ता सव्वस्स वि हवेइ वीसासो ।

ता सव्वं पिय भासइ, ता शुद्धं माणसं कुणई ॥४२९॥

अन्वयार्थ : [ता सव्वत्थ वि कित्ती] (जो धर्म में स्थित है) उसकी सब लोक में कीर्ति होती है [ता सव्वस्स वि वीसासो हवेइ] उसका सब लोक विश्वास करता है [ता सव्वं पिय भासइ] वह पुरूष सबको प्रिय लगता है [ता शुद्धं माणसं कुणई] और वह पुरूष अपने तथा दूसरे के मन को शुद्ध (उज्ज्वल) करता है ।



+ धर्म का माहात्म्य -

उत्तमधम्मेण जुदो, होदि तिरक्खो वि उत्तमो देवो ।

चंडालो वि सुरिंदो, उत्तमधम्मेण संभवदि ॥४३०॥

अन्वयार्थ : [उत्तमधम्मेण जुदो तिरक्खो वि उत्तमो देवो होदि] (सम्यक्त्व सहित) उत्तम धर्म से युक्त तिर्यच भी उत्तम देव होता है [उत्तमधम्मेण चंडालो वि सुरिंदो संभवदि] उत्तम धर्म से चांडाल भी देवेन्द्र हो सकता है ।



अग्गी वि य होदि हिमं, होदि भुयंगो वि उत्तमं रयणं ।

जीवस्स सुधम्मादो, देवा वि य किंकरा होंति ॥४३१॥

अन्वयार्थ : [जीवस्स सुधम्मादो] जीव के उत्तम धर्म के प्रभाव से [अग्गी वि य हिमं होदि] अग्नि तो हिम (शीतल पाला) हो जाती है [भुयंगो वि उत्तमं रयणं होदि] सांप भी उत्तम रत्नों की माला हो जाता है [देवा वि य किंकरा होंति] देव भी किंकर (दास) हो जाते हैं ।



अलियवयणं पि सच्चं, उज्जमरहिण वि लच्छिसंपत्ती ।

धम्मपहावेण णरो, अणओ वि सुहंकरो होदि ॥४३२॥

अन्वयार्थ : [धम्मपहावेण णरो] धर्म के प्रभाव से जीव के [अलियवयणं पि सच्चं] असत्य-वचन भी सत्य हो जाते हैं [उज्जमरहिण वि लच्छिसंपत्ती] उद्यम-रहित को भी लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाती है [अणओ वि सुहंकरो होदि] और अन्यान्य-कार्य भी सुख के करने वाले हो जाते हैं ।



+ धर्म-रहित जीव की निन्दा -

देवो वि धम्मचत्तो, मिच्छत्तवसेण तस्वरो होदि ।

चक्की वि धम्मरहिओ, णिवडइ णरए ण संदेहो ॥४३३॥

अन्वयार्थ : [धम्मचत्तो मिच्छत्तवसेण देवो वि तरूवरो होदि] धर्म-रहित मिथ्यात्व के वश से देव भी वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीव हो जाता है [धम्मरहिओ चक्की वि णरए णिवडइ] धर्म-रहित चर्कवर्ती भी नरक में जा पड़ता है [ण संदेहो] उसमें भी कोई सन्देह नहीं है ।



धम्मविहीणो जीवो, कुणइ असक्कं पि साहसं जइ वि ।

तो ण वि पावदि इट्ठं, सुट्ठु अणिट्ठं परं लहदि ॥४३४॥

अन्वयार्थ : [धम्मविहीणो जीवो जइ वि असक्कं साहसं पि कुणइ] धर्म-रहित जीव यद्यपि बड़ा असह्य साहस (पराक्रम) भी करता है [तो इट्ठं सुट्ठु ण वि पावदि] तो भी उसको इष्ट वस्तु की प्राप्ति नहीं होती है [परं अणिट्ठं लहदि] केवल अनिष्ट की प्राप्ति होती है ।



इय पच्चक्खं पेच्छह धम्माहम्माण विविहमाहप्पं ।

धम्मं आयरह सया, पावं दूरेण परिहरह ॥४३५॥

अन्वयार्थ : [इय धम्माहम्माण विविहमाहप्पं पच्चक्खं पेच्छह] इस प्रकार से धर्म और अधर्म का अनेक प्रकार का माहात्म्य प्रत्यक्ष देखकर [सया धम्मं आयरह] तुम सदा धर्म का आदर करो [पावं दूरेण परिहरह] और पाप को दूर ही से छोड़ो ।



+ बारह प्रकार तप -

बारसभेओ भणिओ, णिज्जरहेउ तवो समासेण ।

तस्स पयारा एदे, भणिज्जमाणा मुणेयव्वा ॥४३६॥

अन्वयार्थ : [णिज्जरहेउ तवो बारसभेओ समासेण भणिओ] कर्म निर्जरा का कारण तप बारह प्रकार का संक्षेप से जिनागम में कहा गया है [तस्स पयारा एदे भणिज्जमाणा मुणेयव्वा] उसके भेद जो अब कहेंगे सो जानना चाहिये ।



+ अनशन तप -

उवसमणं अक्खाणं, उववामो वण्णिदो मुणिंदेहि ।

तम्हा भुंजुंताविय जिदिंदिया हों ति उववासा ॥४३७॥

अन्वयार्थ : [मुणिंदेहि अक्खाणं उवसमणं उववासा वण्णिदो] मुनीन्द्रों ने संक्षेप में इन्द्रियों को विषयों में न जाने देने को, मन को अपने आत्म-स्वरूप में लगाने को उपवास कहा है [तम्हा जिदिदिया भुंजुता वि य उववासा होंति] इसलिये जितेन्द्रिय आहार करते हुए भी उपवास सहित ही होते हैं ।



**जो मणइंदियविजई, इहभवपरलोयसोक्खणिरवेक्खो ।
अप्पाणे विय णिवसइ, सज्झायपरायणो होदि ॥४३८॥
कम्माणणिज्जरट्ठं, आहारं परिहरेइ लीलाए ।
एगदिणादिपमाणां, तस्स तवं अणसणं होदि ॥४३९॥**

अन्वयार्थ : [जो मणइंदियविजई] जो मन और इन्द्रियों को जीतनेवाला है [इह भवपरलोयसोक्खणिरवेक्खो] इस भव और परभव के विषय-सुखों में अपेक्षा-रहित है (वांछा नहीं करता) [अप्पाणे विय णिवसइ] अपने आत्म-स्वरूप में ही रहता है [सज्झायपरायणो होदि] तथा स्वाध्याय में तत्पर है । [एगदिणादिपमाणां] और एक दिन की मर्यादा से [कम्माण णिज्जरट्ठं] कर्मों की निर्जरा के लिये [लीलाए आहारं परिहरेइ] लीलामात्र ही क्लेश-रहित हर्ष से आहार को छोड़ता है [तस्स अणसणं तवं होदि] उसके अनशन तप होता है ।



**उववासं कुव्वाणो, आरंभं जो करेदि मोहादो ।
तस्स किलेसो अवरं, कम्माणं णेव णिज्जरणं ॥४४०॥**

अन्वयार्थ : [जो उववासं कुव्वाणे मोहादो आरंभं करेदि] जो उपवास करता हुआ मोह से आरम्भ (गृहकार्यादि) को करता है [तस्स अवरं किलेसो] उसके अधिक क्लेश हो गया [कम्माणं णिज्जरणं णेव] कर्मों का निर्जरण तो नहीं हुआ ।



+ अवमौदर्य तप -

**आहारगिद्धिरहिओ, चरियामग्गेण पासुगं जोग्गं ।
अप्पयरं जो भुज्जइ, अवमोदरियं तवं तस्स ॥४४१॥**

अन्वयार्थ : [जो आहारगिद्धिरहिओ] जो तपस्वी आहार की अतिचाह से रहित होकर [चरियामग्गेण जोग्गं पासुगं] शास्त्रोक्त चर्या की विधि से योग्य प्रासुक आहार [अप्पयरं भुंजइ] अति अल्प लेता है [तस्स अवमोदरियं तवं] उसके अवमौदर्य तप होता है ।



जो पुण कित्तिणिमित्तं, मायाए मिट्ठुभिक्खलाहट्ठं ।

अप्पं भुज्जदि भोज्जं, तस्स तवं णिप्फलं बिदियं ॥४४२॥

अन्वयार्थ : [जो पुण कित्तिणिमित्तं] जो मुनि कीर्ति के निमित्त तथा [मायाए मिट्ठुभिक्खलाहट्ठं] माया (कपट) से और मिष्ट-भोजन के लाभ के लिए [अप्पं भोज्जे भुज्जदि] अल्प-भोजन करता है (तपका नाम करता है) [तस्स विदियं तवं णिप्फलं] उसके दूसरा अवमौदर्य तप निष्फल है ।



+ वृत्तिपरिसंख्यान तप -

एगादिगिहपमाणं, किं वा संकप्पकप्पियं विरसं ।

भोज्जं पसुव्व भुज्जदि, वित्तिपमाणं तवो तस्स ॥४४३॥

अन्वयार्थ : [एगादिगिहपमाणं] (आहार हेतु) एक-दो आदि ही घर का प्रमाण करके [किं वा संकप्पकप्पियं विरसं] कुछ और भी संकल्प लेकर [भोज्जं पसुव्व भुज्जदि] आहार पशु गौ आदि की तरह करे (जैसे गौ इधर-उधर नहीं देखती है चरने ही की तरफ देखती है) [तस्स वित्तिपमाणं तवो] उसके वृत्ति-परिसंख्यान तप है ।



+ रस-परित्याग तप -

संसारदुक्खतट्ठो, विससमविसयं विचिंतमाणो जो ।

णीरसभोज्जं भुज्जइ, रसचाओ तस्स सुविसुद्धो ॥४४४॥

अन्वयार्थ : [जो संसारदुक्खतट्ठो विससमवियं विचिंतमाणो] जो मुनि संसार के दुःख से तप्तायमान होकर ऐसे विचार करता है कि इन्द्रियों के विषय विसमान हैं विष खाने पर तो एक ही बार मरता है और विषय-सेवन करने पर बहुत जन्म मरण होते हैं ऐसा विचार कर [णीरसभोज्जं भुज्जइ] नीरस भोजन करता है [तस्स रसचाओ सुविसुद्धो] उसके रस-परित्याग तप निर्मल होता है ।



+ विविक्त-शय्यासन तप -

जो रायदोसहेट्ठ आसणसिज्जादियं परिच्चयइ ।

अप्पा णिव्विसय सया, तस्स तवो पंचमो परमो ॥४४५॥

अन्वयार्थ : [जो रायदोसहेट्ठ आसणसिज्जादियं परिच्चयइ] जो राग-द्वेष के कारण आसन शय्या आदि को छोड़ता है [अप्पा णिव्विसय सया] तथा सदा अपने आत्म-स्वरूप में रहता है [तस्स पंचमो तवो परमो] उस मुनि के पांचवा तप विविक्त-शय्यासन उत्कृष्ट होता है ।





पूजादिसु णिरवेक्खो, संसारसरीरभोगणिव्विण्णो ।
 अब्भंतरतवकुसलो, उवसमसीलो महासंतो ॥४४६॥
 जो णिवसेदि मसाणे, वणगहणे णिज्जणे महाभीमे ।
 अण्णत्थ वि एयंते, तस्स वि एदं वि एदं तवं होदि ॥४४७॥

अन्वयार्थ : [जो पूजादिसु णिरवेक्खो] जो पूजा आदि में निरपेक्ष है, [संसारसरीरभोगणिव्विण्णो] संसार, शरीर और भोगों से विरक्त है [अब्भंतरतवकुसलो] (स्वाध्याय, ध्यान आदि) अन्तरंग तपों में प्रवीण है, [उवसमसीलो] उपशमशील (मन्दकषायरूप शान्तपरिणामी) है [महासंतो] महा पराक्रमी है । [मसाणे वणगहणे णिज्जणे महाभीमे अण्णत्थ वि एयंते णिवसेदि] श्मशानभूमि, गहन-वन, निर्जन-स्थान, महा-भयानक उद्यान और अन्य भी ऐसे एकान्त स्थानों में रहता है [तस्स वि एदं वि होदि] उसके निश्चय से यह विविक्त-शय्यासन तप होता है ।



+ काय-क्लेश तप -

दुस्सहउवसग्गजई, आतावणसीयवायखिण्णो वि ।
 जो ण वि खेदं गच्छदि, कायकिलेसो तवो तस्स ॥४४८॥
अन्वयार्थ : [जो दुस्सहउवसग्गजई] जो दुःसह उपसर्ग को जीतने वाला है [आतावणसीयवायखिण्णो वि] आताप शीत वात पीडित होकर भी खेद को प्राप्त नहीं होता है [खेदं वि ण गच्छदि] चित्त में क्षोभ (क्लेश) भी नहीं करता है [तस्सकायिकलेसो तवो] उसके काय-क्लेश नामक तप होता है ।



+ प्रायश्चित्त तप -

दोसं ण करेदि सयं, अण्णं पि णकारएदि जो तिपिहं ।
 कुव्वाणं पि ण इच्छदि, तस्स विसोही परा होदि ॥४४९॥
अन्वयार्थ : [जो तिविहं सयं दोसं ण करेदि अण्णं पि णकारएदि] जो मन-वचन-काय से स्वयं दोष नहीं करता है, दूसरे से भी दोष नहीं कराता है और [कुव्वाणं पि ण इच्छदि] करते हुए को भी अच्छा नहीं मानता है [तस्स परा विसोही होदि] उसके उत्कृष्ट विशुद्धि होती है ।



अह कह वि पमादेण य, दोसो तदि एदि तं पि पयडेदि ।

णिदोससाहुमूले, दसदोसविवज्जिदो होदुं ॥४५०॥

अन्वयार्थ : [अह कह वि पमादेण य दोसो तदि एदि तं पि] अथवा किसी प्रमाद से अपने चारित्र में दोष आया हो तो उसको [णिदोससाहुमूले दसदोसविवज्जिदो होदुं] निर्दोष आचार्य के पास दस दोषों से रहित होकर प्रकट करे ।



जं किं पि तेण दिण्णं, तं सव्वं सो करेदि सद्धाए ।

णो पुण हियएसेकदि, किं थोवं किं पि वहुयं वा ॥४५१॥

अन्वयार्थ : [जं किं पि तेण दिण्णं तं सव्वं सो सद्धाए करेदि] दोषों की आलोचना करने के बाद में जो कुछ आचार्य ने प्रायश्चित्त दिया हो उस सब ही को श्रद्धापूर्वक करे [पुण हियए णोसेकदि किं थोवं किंमु वहुयं वा] और हृदय में ऐसी शंका न करे कि यह प्रायश्चित्त दिया सो थोड़ा है या बहुत है ।



पुणरविकाउं णेच्छदि, तं दोसं जइ वि जाइ सयखंडं ।

एवं णिच्चयसहिदो, पायच्छित्तं तवो होदि ॥४५२॥

अन्वयार्थ : [पुणरवि तं दोसंकाउं णेच्छदि जइ वि सयखंडं जाइ] लगे हुए दोष का प्रायश्चित्त लेकर उस दोष को करना न चाहे, यदि अपने सौ टुकड़े भी हो जाय तो भी न करे [एवं णिच्चयसहिदो पायच्छित्तं तवो होदि] ऐसे निश्चय सहित प्रायश्चित्त नामक तप होता है ।



जो चिंतइ अप्पाणं, णाणसरूवं पुणो पुणो णाणी ।

विकहादिविरत्तमणो, पायच्छित्तं वरं तस्स ॥४५३॥

अन्वयार्थ : [जो णाणी अप्पाणं णाणसरूवं पुणो पुणो चिंतइ] जो ज्ञानी आत्मा को ज्ञान-स्वरूप बारम्बार चिंतवन करता है [विकहादिविरत्तमणो] और विकथादिक प्रमादों से विरक्त होता हुआ ज्ञान ही का निरन्तर सेवन करता है [तस्स वरं पायच्छित्तं] उसके श्रेष्ठ प्रायश्चित्त होता है ।



+ विनय तप -

विणयो पंचपचारो, दंसणणाणे तहा चरित्ते य ।

वारसभेयम्मि तवे, उवयारो बहुविहो णेओ ॥४५४॥

अन्वयार्थ : [विणयो पंचपयारो] विनय पांच प्रकार का है [दंसणणाणे तहा चरित्ते य] दर्शन में, ज्ञान में तथा चारित्र में और [वारसभेयम्मि तवे] बारह प्रकार के तप में विनय [उवयारो बहुविहो णेओ] और उपचार विनय इस प्रकार यह अनेक प्रकार का जानना चाहिये ।



**दंसणणाणचरित्ते, सुविसुद्धो जो इवेइ परिणामो ।
वारसभेदे वि तवे, सो च्चिय विणओ हवे तेसिं ॥४५५॥**

अन्वयार्थ : [दंसणणाणचरित्ते] दर्शन-ज्ञान-चारित्र में [वारसभेदे वि तवे] और बारह प्रकार के तप में [जो सुविसुद्धो परिणामोहवेइ] जो विशुद्ध परिणाम होते हैं [सो च्चिय तेसिं विणओ हवे] वह ही उनका विनय है ।



**रयण्णत्तयजुत्ताणं, अणुकूलं जो चरेदि भत्तीए ।
भिच्चो जह रायाणं, उवयारो सो हवे विणओ ॥४५६॥**

अन्वयार्थ : [जह रायाणं भिच्चो] जैसे राजा के नौकर राजा के अनुकूल प्रवृत्ति करते हैं वैसे ही [जो रयण्णत्तयजुत्ताणं अणुकूलं भत्तीए चरेदि] जो रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र) के धारक मुनियों के अनुकूल भक्ति पूर्वक आचरण (प्रवृत्ति) करता है [सो उवयारो विणओ हवे] सो उपचार विनय है ।



+ वैयावृत्य तप -

**जो उवयरदि जदीणं, उवसग्गजराइखीणकायाणं ।
पूजादिसु णिरवेक्खं, वेज्जावच्चं तवो तस्स ॥४५७॥**

अन्वयार्थ : [जो पूजादिसु णिरवेक्खं] जो अपनी पूजा (महिमा) आदि में अपेक्षा (वांछा) रहित होकर [उवसग्गजराइखीणकायाणं जदीणं उवयरदि] उपसर्ग पीडित तथा जरा रोगादि से क्षीणकाय यतियों का अपनी चेष्टा से, उपदेश से और अल्प वस्तु से उपकार करता है [तस्स वेज्जावच्चं तवो] उसके वैयावृत्य नामक तप होता है ।



**जो वावरइ सरूवे, समदम भावम्मि सुद्धिउवजुत्तो ।
लोयववहारविरदो, वेज्जावच्चं परं तस्स ॥४५८॥**

अन्वयार्थ : [जो समदम भावम्मि वावरइ सरूवे सुद्धिउवजुत्तो] जो शमदम भावरूप अपने आत्म-स्वरूप में शुद्धोपयोगमय प्रवृत्ति करता है और [लोयववहारविरदो] लोक-

व्यवहार (बाह्य वैयावृत्य) से विरक्त होता है [तस्स परं वेज्जावच्चं] उसके उत्कृष्ट (निश्चय) वैयावृत्य होता है ।



+ स्वाध्याय तप -

**परतत्तीणिरवेक्खो, दुट्ठवियप्पाण णासणसमत्थो ।
तच्चविणिच्छयहेट्ठ, सज्झाओ ज्झणसिद्धियरो ॥४५९॥**

अन्वयार्थ : [परतत्तीणिरवेक्खो] दूसरे की निन्दा में निरपेक्ष, [दुट्ठवियप्पाण णासणसमत्थो] मन के दुष्ट विकल्पों का नाश करने में समर्थवान के, [तच्चविणिच्छयहेट्ठ] तत्व के निश्चय करने का कारण और [ज्झणसिद्धियरो] ध्यान की सिद्धि करने वाला [सज्झाओ] स्वाध्याय नामक तप होता है ।



+ [जो पूयादिसु णिरवेक्खो] जो अपनी पूजा आदि में निरपेक्ष (वांछारहित) होता है और [कम्मलसोहणट्ठं] कर्मरूपी मैल का नाश करनेके लिए [भत्तीए जिणसत्थं पढेइ] भक्ति-पूर्वक जिन-शास्त्र को पढ़ता है [तस्स सुयनलाहो सुहयरो] उसको श्रुत का सुखकारी लाभ होता है । -

**पूयादिसु णिरवेक्खो, जिणसत्थं जो पढेइ भत्तीए ।
कम्मलसोहणट्ठं, सुयनलाहो सुहयरो तस्स ॥४६०॥**

अन्वयार्थ : [जो पूयादिसु णिरवेक्खो] जो अपनी पूजा आदि में निरपेक्ष (वांछारहित) होता है और [कम्मलसोहणट्ठं] कर्मरूपी मैल का नाश करनेके लिए [भत्तीए जिणसत्थं पढेइ] भक्ति-पूर्वक जिन-शास्त्र को पढ़ता है [तस्स सुयनलाहो सुहयरो] उसको श्रुत का सुखकारी लाभ होता है ।



**जो जिणसत्थंसेवदि, पंडियमाणी फलं समीहंतो ।
साहम्मियपडिकूलो, सत्थं पि विसं हवे तस्स ॥४६१॥**

अन्वयार्थ : [जो जिणसत्थंसेवदि फलं समीहंतो] जो जिनशास्त्र तो पढ़कर फल (अपनी पूजा लाभ और सत्कार) को चाहता है [साहम्मियपडिकूलो] तथा साधर्मी (सम्यग्दृष्टि जैनी) के प्रतिकूल (विपरीत) है [पंडियमाणी] सो पंडितमन्य है (जो पण्डित तो होता नहीं है और अपने को पण्डित मानता है उसको पण्डितमन्य कहते हैं) [तस्स सत्थं पि विसं हवे] उसके वह ही शास्त्र विषरूप होता है ।



**जो जुद्धकामसत्थं, रायदोसेहिं परिणदो पढइ ।
लोयावंचणहेट्ठं, सज्झाओ णिप्फलो तस्स ॥४६२॥**

अन्वयार्थ : [जो जुद्धकामसत्थं रायदोसेहिं परिणदो] जो युद्ध के और काम-कथा के शास्त्र राग-द्वेष परिणाम से [लोयावंचणहेदुं पढइ] लोगों को ठगने के लिए पढ़ता है [सज्झाओ णिप्फलो तस्स] उसका स्वाध्याय निष्फल है ।



जो अप्पाणं जाणदि, असुइसरीरादुतच्चदो भिण्णं ।

जाणगरूवसरूवं, सो सत्थं जाणदे सव्वं ॥४६३॥

अन्वयार्थ : [जो अप्पाणं असुइसरीरादु तच्चदो भिण्णं] जो अपनी आत्मा को इस अपवित्र शरीर से भिन्न [जाणगरूवसरूवं जाणदि] ज्ञायकरूप स्वरूप जानता है [सो सव्वं सत्थं जाणदे] वह सब शास्त्रों को जानता है ।



जो णवि जाणदि अप्पं, णाणसरूवं सरीरदोभिण्णं ।

सो णवि जाणदि सत्थं, आगमपाढं पुणंतो वि ॥४६४॥

अन्वयार्थ : [जो अप्पं णाणसरूवं सरीरदो भिण्णं णवि जाणदि] जो अपनी आत्मा को ज्ञानस्वरूपी और शरीर से भिन्न नहीं जानता है [सो आगमपाढं पुणंतो वि सत्थं णवि जाणदि] सो आगम का पाठ करे तो भी शास्त्र को नहीं जानता है ।



+ व्युत्सर्ग तप -

जल्लमललित्तगत्तो, दुस्सहवाहीसु णिप्पडीयारो ।
मुहधोवणादिविरओ, भोयणसेज्जादिणिरवेक्खो ॥४६५॥

ससरूवचिंतणरओ, दुज्जणसुयणाण जो हु मज्झत्थो ।

देहे वि णिम्ममत्तो, काओसग्गो तवो तस्स ॥४६६॥

अन्वयार्थ : [जो जल्लमललित्तगत्तो] जो जल्ल (पसेव) और मल से तो लिप्त शरीर हो [दुस्सहवाहीसु णिप्पडीयारो] असह्य तीव्र रोग आने पर भी उसका प्रतीकार (इलाज) न करता हो [मुहधोवणादिविरओ] मुँह धोना आदि शरीर के संस्कार से विरक्त हो [भोयणसेज्जादिणिरवेक्खो] भोजन और शय्या आदि की वांछा रहित हो [ससरूवचिंतणरओ] अपने स्वरूप के चिंतन में रत (लीन) हो [दुज्जणसुयणाण हु मज्झत्थो] दुर्जन सज्जन में मध्यस्थ हो (शत्रु मित्र बराबर जानता हो) [देहे विणिम्ममत्तो] अधिक क्या कहें, देह में भी ममत्व-रहित हो [तस्सकाओसग्गो तवो] उसके कायोत्सर्ग नामक तप होता है ।



जो देहधारणपराक, उवयरणादिविसेससंतो ।

बाहिरववहाररओ, काओसगो कुदो तस्स ॥४६७॥

अन्वयार्थ : [जो देहधारणपरो] जो देह का पालन करने में तत्पर हो [उवयरणादीसेससंतो] उपकरणादिक में विशेष संसक्त हो, [आहीरववहाररओ] बाह्य व्यवहार (लोकरंजन) करने में रत हो (तत्पर हो) [तस्सकाओसगो कुदो] उसके कायोत्सर्ग तप कैसे हो ?



+ ध्यान का लक्षण -

अंतो मुहुत्तमेत्तं, लीणं वत्थुम्मि माणसं णाणं ।

ज्झाणं भण्णादि समए, असुहं च सुहं च तं दुविहं ॥४६८॥

अन्वयार्थ : [माणसं णाणं वत्थुम्मि अन्तो मुहुत्तमेत्तं लीणं] जो मन सम्बन्धी ज्ञान वस्तु में अन्तर्मुहूर्तमात्र लीन होता है (एकाग्र होता है) सो [समए ज्झाणं भण्णादि] सिद्धांत में ध्यान कहा गया है [तं च असुहं सुहं च दुविहं] और वह शुभ अशुभ के भेद से दो प्रकार का है ।



+ शुभ और अशुभ ध्यान -

असुहं अट्ट रउद्धं, धम्मं सुक्कं च सुहयरं होदि ।

अट्टं तिक्कषायं, तिक्कतमकसायदो रूद्धं ॥४६९॥

अन्वयार्थ : [अट्ट रउद्धं असुहं] आर्त-ध्यान रौद्र-ध्यान ये दोनों तो अशुभ ध्यान है [धम्मं सुक्कं च सुहयरं होदि] और धर्म-ध्यान शुक्ल-ध्यान ये दोनों शुभ और शुभतर हैं [अट्टं तिक्कषायं] इनमें आदि का आर्तध्यान तो तीव्र कषाय से होता है [रूद्धं तिक्कतमकसायदो] और रौद्रध्यान अति तीव्र कषाय से होता है ।



मंदकषायं धम्मं, मंदतमकसायदो अवे सुक्कं ।

अकसाए वि सुयड्ढे, केवलणाणे वि तं होदि ॥४७०॥

अन्वयार्थ : [धम्मं मंदकषायं] धर्म-ध्यान मन्द-कषाय से होता है [सुक्कं मंदतमकसायदो अवे] शुक्ल-ध्यान अत्यन्त मन्द-कषाय में होता है, [अकसाए वि सुयड्ढे, केवलणाणे वि तं होदि] और वह शुक्ल-ध्यान कषाय का अभाव होने पर श्रुतज्ञानी, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, केवलज्ञानी, सयोगी तथा अयोगी जिन के भी होता है ।



दुःखयर-विसयजोए, केम इमं चयदि इदि विचिंतंतो ।
चेट्टदि जो विक्खित्तो, अट्टंज्झाणं हवे तस्स ॥४७१॥
मणहरविसयविओगे, कह तं पावेमि इहि वियप्पो जो ।
संतावेण पयट्ठो, सो च्चिय अट्टं हवे ज्झाणं ॥४७२॥

अन्वयार्थ : [जो दुःखयरविसयजोए] जो दुःखकारी विषय का संयोग होने पर [इदि विचिंतंतो] ऐसा चिन्तवन करे कि [इमंकेम चयदि] यह मेरे कैसे दूर हो, [विक्खित्तो चेट्टदि] विक्षिप्त-चित्त होकर चेष्टा करे, [तस्स अट्टं ज्झाणं हवे] उसके आर्त-ध्यान होता है [जो मणहरविसयविओगे] जो मनोहर विषय सामग्री का वियोग होने पर [इदि वियप्पो] ऐसा चिंतवन करे कि [तं कह पावेमि] उसको मैं कैसे पाऊँ [संतावेण पयट्ठो] उसके वियोग से संतापरूप [दुःखस्वरूप] प्रवृत्ति करे [सो च्चिय अट्टं ज्झाणं हवे] वह भी आर्त-ध्यान है ।



हिंसाणंदेण जुदो, असच्चवयणेण परिणदो जो दु ।
तत्थेव अथिरचित्तो, रूद्धं ज्झाणं हवे तस्स ॥४७३॥

अन्वयार्थ : [जो हिंसाणंदेण जुदो] जो हिंसा में आनन्द युक्त होता है, [असच्चवयणेण परिणदो दु] असत्य-वचन से प्रवृत्ति करता रहता है [तत्थेव अथिरचित्तो] और इन्हीं में विक्षिप्त-चित्त बना रहता है [तस्स रूद्धं ज्झाणं हवे] उसके रौद्र-ध्यान होता है ।



परविसयहरणसीलो, सगीयविसये सुरक्खणेदक्खो ।
तग्गयचिंत्ताविट्ठो, णिरंतरं तं पि रूद्धं पि ॥४७४॥

अन्वयार्थ : [परविसयहरणसीलो] जो दूसरे की विषय-सामग्री को हरण करने के स्वभाव सहित हो [सगीयविसये सुरक्खणे दक्खो] अपनी विषय-सामग्री की रक्षा करने में प्रवीण हो [तग्गयचिंत्ताविट्ठो णिरंतरं] इन दोनों कार्यों में निरन्तर चित्त को लवलीन रखता हो [तं पि रूद्धं पि] उसके भी रौद्र-ध्यान ही है ।



विण्णि वि असुहेज्झणे, पावणिहाणे य दुक्खसंताणे ।
तम्हा दूरे वज्जह, धम्मे पुण आयरं कुणह ॥४७५॥

अन्वयार्थ : [विणिं विज्झाणे असुहे] (आर्त और रौद्र) दोनों ही अशुभ-ध्यान को [पावणिहाणे य दुक्खसंताणे] पाप के निधान और दुःख की सन्तान [तम्हा दूरे वज्जह] जानकर दूर ही से छोड़ो [पुण धम्मे आयरं कुणह] और धर्म-ध्यान में आदर करो ।



+ धर्म-ध्यान का स्वरूप -

धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो ।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥४७६॥

अन्वयार्थ : [वत्थुसहावो धम्मो] वस्तु का स्वभाव धर्म है [खमादिभावो य दसविहो धम्मो] दस प्रकार के क्षमादिभाव धर्म है [रयणत्तयं च धम्मो] रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र) धर्म है [जीवाणं रक्खणं धम्मो] और जीवों की रक्षा करना भी धर्म है ।



धम्मे एयग्गमणो, जो ण वि वेदेदि पंचहा विसयं ।
वेरग्गमओ णाणी, धम्मज्झाणं हवे तस्स ॥४७७॥

अन्वयार्थ : [जो णाणी] जो ज्ञानी [धम्मे एयग्गमणो] धर्म में एकाग्र मन हो प्रवर्ते [पचहा विसयं ण वि वेदेदि] पाँचों इन्द्रियों के विषयों को नहीं वेदे [वेरग्गमओ] और वैराग्यमयी हो [तस्स धम्मज्झाणं हवे] उसके धर्म-ध्यान होता है ।



सुविसुद्धरायदोसो, बाहिरसंकप्पवज्जिओ धीरो ।
एयग्गमणो संतो, जं चिंतइ तं पि सुहज्झाणं ॥४७८॥

अन्वयार्थ : [सुविसुद्धरायदोसो] जो राग-द्वेष से रहित होता हुआ [बाहिरसंमप्पवज्जिओ धीरो] बाह्य के संकल्प से वर्जित होकर, धीर-चित्त, [एयग्गमणो संतो जं चिंतइ] एकाग्रमन होता हुआ जो चिन्तवन करे [तं पि सुहज्झाणं] वह भी शुभ-ध्यान है ।



ससरूवसमुब्भासो, णट्टममत्तो जिदिदिओ संतो ।
अप्पाणं चिंतंतो, सुहज्झाणरओ हवे साहू ॥४७९॥

अन्वयार्थ : [ससरूवसमुब्भासो] अपने स्वरूप का समुद्भास (प्रकट होना) हो गया हो [णट्टममत्तो ज] (पर-द्रव्य में) ममत्व-भाव जिसका नष्ट हो गया हो [जिदिदिओ संतो] जितेन्द्रिय हो [अप्पाणं चिंतंतो] और अपनी आत्मा का चिन्तवन करता हो [साहू सुहज्झाणरओ हवे] वह साधु शुभ-ध्यान में लीन होता है ।



वज्जियसयलवियप्पो, अप्पसरूवे मणं णिरूधत्तो ।

जं चिंतदि साणंदं, तं धम्मं उत्तमं ज्ञाणं ॥४८०॥

अन्वयार्थ : [जं वज्जियसयलवियप्पो] जो समस्त विकल्पों को छोड़ [अप्पसरूवे मणं णिरूधत्तो] आत्म-स्वरूप में मन को रोककर [साणंदं चिंतदि] आनन्द सहित चिन्तन करता है [तं उत्तमं धम्मं ज्ञाणं] उसके उत्तम धर्म-ध्यान है ।



+ शुक्ल-ध्यान -

जत्थ गुणा सुविसुद्धा, उवसमखमणं च जत्थ कम्माणं ।

लेसा वि जत्थ सुक्का, तं सुक्कं भण्णदे ज्ञाणं ॥४८१॥

अन्वयार्थ : [जत्थ सुविसुद्धा गुणा] जहाँ भले प्रकार विशुद्ध (व्यक्त कषायों के अनुभव रहित) उज्ज्वल गुण (ज्ञानोपयोग आदि) हों [जत्थ कम्माणं उवसमखमणं च] जहाँ कर्मों का उपशम तथा क्षय हो [जत्थ लेसा वि सुक्का] और जहाँ लेश्या भी शुक्ल ही हो [तं सुक्कं ज्ञाणं भण्णदे] उसको शुक्ल-ध्यान कहते हैं ।



+ पहला शुक्ल-ध्यान -

पडिसमयं सुज्झंतो अणंतगुणिदाए उभयसुद्धीए ।

पढमं सुक्कं ज्ञायदि, आरूढो उभयसेणीसु ॥४८२॥

अन्वयार्थ : [उभयसेणीसु आरूढो] (उपशमक और क्षपक) दोनों श्रेणियों में आरूढ होकर [पडिसमयं] समय-समय [अणंतगुणिदाए उभयसुद्धीए सुज्झंतो] अनन्तगुणी विशुद्धता कर्म के उपशम तथा क्षयरूप से शुद्ध होता हुआ मुनि [पढमं सुक्कं ज्ञायदि] प्रथम शुक्ल-ध्यान (पृथक्त्व-वितर्क-वीचार) ध्यान करता है ।



+ दूसरा शुक्ल-ध्यान -

णिस्सेसमोहविलए, खीणकसाए य अंतिमेकाले ।

ससरूवम्मि णिलीणो, सुक्कं ज्ञाएदि एयत्तं ॥४८३॥

अन्वयार्थ : [णिस्सेसमोहविलए] समस्त मोह-कर्म के नाश होने पर [खीणकसाए य अंतिमेकाले] क्षीण-कषाय गुणस्थान के अन्त के काल में [ससरूवम्मि णिलीणो] अपने स्वरूप में लीन हुआ [एयत्तं सुक्कं ज्ञाएदि] (दूसरा शुक्लध्यान) एकत्व-वितर्क-वीचार ध्यान करता है ।

+ तीसरा शुक्ल-ध्यान -

केवलणाणसहावो, सुहमे जोगम्हि संठिओकाए ।
जं जझायदि सजोगिजिणो, तं तिदियं सुहमकिरियं च ॥४८४॥

अन्वयार्थ : [केवलणाणसहावो] केवल ज्ञान ही है स्वभाव जिसका ऐसा [सजोगिजिणो] सयोगीजिन [सुहमंकाए जोगम्हि संठिओ] जब सूक्ष्म-काययोग में स्थित होकर उस समय [जं जझायदि] जो ध्यान करता है [तं तिदियं सुहमकिरियं च] वह तीसरा सूक्ष्म-क्रिया (शुक्ल-ध्यान) है ।

+ चौथा शुक्ल-ध्यान -

जोगविणासं किच्चा, कम्मचउक्कस्स खवणकरणट्ठं ।
जं जझायदि अजोगिजिणो, णिक्किरियं तं चउत्थं च ॥४८५॥

अन्वयार्थ : [जोगविणासं किच्चा] योगों का अभाव करके [अजोगिजिणो] अयोगी जिन [कम्मचउक्कस्स खवणकरणट्ठं] चार अघातिया कर्म का क्षय करने के लिये [जं जझायदि] जो ध्यान करते हैं [तं चउत्थं णिक्किरियं च] वह चौथा व्युपरतक्रियानिवृत्ति (शुक्लध्यान) है ।

+ उपसंहार -

एसो वारसभेओ, उगगतवोजोचरेदि उवजुत्तो ।
सो चाविय कम्मपुंजं, मुत्तिसुहं उत्तमं लहदि ॥४८६॥
अन्वयार्थ : [एसो वारसभेओ] यह बारह प्रकार का [उगगतवो जो उवजुत्तो चरेदि] उग्रतप को जो उपयोग सहित करता है [सो कम्मपुंजं खविय] सो कर्म-समूह का नाश करके [उत्तमं मुत्तिसुहं लहदि] उत्तम (अक्षय) मोक्ष-सुख को पाता है ।

+ ग्रन्थ-कर्ता द्वारा ग्रन्थ करने का कारण -

जिणवयणभावणट्ठं, सामिकुमारेण परपसद्धाए ।
रइया अणुवेक्खाओ, चंचलमण-रूभणट्ठं च ॥४८७॥
अन्वयार्थ : [अणुवेक्खाओ] यह अनुप्रेक्षा नामक ग्रन्थ [सामिकुमारेण] स्वामिकुमार ने [परमसद्धाए] श्रद्धापूर्वक [जिणवयणभावणट्ठं] जिनवचन की भावना के लिये [चंचलमणरूभणट्ठं च रइया] और चंचल मन को रोकनेके लिये रचा (बनाया) है ।



+ उपदेश का फल -

वारसअणुवेक्खाओ, भणिया हु जिणागमाणुसारेण ।
जो पढइ सुणइ भावइ, सो पावइ उत्तमं सोक्खं ॥४८८॥

अन्वयार्थ : [वारसअणुवेक्खाओ जिणागमाणुसारेण भणिया हु] ये बारह अनुप्रेक्षायें जिनागम के अनुसार कहीं हैं [जो पढइ सुणइ भावइ] जो इनको पढ़े, सुने और इनकी भावना (बारम्बार चिन्तवन) करे [सो उत्तमं सोक्खं पावइ] सो उत्तम (बाधारहित, अविनाशी, स्वात्मीक) सुख को पावे।



+ अन्त्य-मंगल -

तिहुयणपहाणस्वामिं, कुमारकाले वि तावय विचरणं ।
वसुपुज्जसुयं मल्लिं, चरिमतियं संथुवे णिच्चं ॥४८९॥

अन्वयार्थ : [तिहुयणपहाणस्वामिं] तीन भुवन के प्रधान स्वामी तीर्थकर-देव जिन्होंने [कुमारकाले वि तविय तवचरणं] कुमारकाल में ही तपश्चरण धारण किया ऐसे [वसुपुज्जसुयं मल्लिं यरिमतियं] वसुपूज्य राजा के पुत्र वासुपूज्य-जिन, मल्लि-जिन और चरिमतिय (अन्त के तीन - नेमिनाथ-जिन, पार्श्वनाथ-जिन, वर्द्धमान-जिन) का मैं [णिच्चं संथुवे] नित्य ही स्तवन करता हूँ ।



एसो बारस-भेओ उग्ग-तवो जो चरेदि उवजुत्तो
सो खवदि कम्म-पुंजं मुत्ति-सुहं अक्खयं लहदि ॥४८८॥



जिण-वयण-भावणट्ठं सामि-कुमारेण परम-सद्धाए
रइया अणुवेहाओ चंचल-मण-रुंभणट्ठं च ॥४८९॥

